३

शतक
सप्ततिका
कषायप्राभृत
सत्कर्मप्राभृत
कर्मप्रकृति

श्री चन्द्रर्षि महत्तर प्रणीत

पंचसंग्रह

मूल-शब्दार्थ एवं विवेचन युक्त

हिन्दी व्याख्याकार

मरुधर केसरी श्री मिश्रीमलजी महाराज

योगोपयोगमार्गणा
बन्धक
बन्धव्य
बन्धहेतु
बन्धविधि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संपादक - देवकुमार जैन

श्री चन्द्रर्षिमहत्तर प्रणीत

पंचसंग्रह

[बंधव्य-प्ररूपणा अधिकार]

(मूल, शब्दार्थ, विवेचन युक्त)

हिन्दी व्याख्याकार

श्रमणसूर्य प्रवर्तक मरुधरकेसरी

श्री मिश्रीमल जी महाराज

सम्प्रेरक

मरुधराभूषण

श्री सुकनमुनि

सम्पादक

देवकुमार जैन

प्रकाशक

आचार्यश्री रघुनाथ जैन शोध संस्थान, जोधपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

☐ श्री चन्द्रर्षिमहत्तर प्रणीत
पंचसंग्रह (३)
(बंधव्य-प्ररूपणा अधिकार)

☐ हिन्दी व्याख्याकार
स्व० मरुधरकेसरी प्रवर्तक श्री मिश्रीमल जी महाराज

☐ संयोजक-संप्रेरक
मरुधराभूषण श्री सुकनमुनि

☐ सम्पादक
देवकुमार जैन

☐ प्राप्तिस्थान
श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति
पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)

☐ प्रथमावृत्ति
वि० सं० २०४२, वैशाख, अप्रैल १९८५

लागत से अल्पमूल्य १०/- दस रुपया सिर्फ

☐ मुद्रण
श्रीचन्द सुराना 'सरस' के निदेशन में
एन० के० प्रिंटर्स, आगरा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय

जैनदर्शन का मर्म समझना हो तो 'कर्मसिद्धान्त' को समझना अत्यावश्यक है। कर्मसिद्धान्त का सर्वांगीण तथा प्रामाणिक विवेचन 'कर्मग्रन्थ' (छह भाग) में बहुत ही विशद रूप से हुआ है, जिनका प्रकाशन करने का गौरव हमारी समिति को प्राप्त हुआ। कर्मग्रन्थ के प्रकाशन से कर्मसाहित्य के जिज्ञासुओं को बहुत लाभ हुआ तथा अनेक क्षेत्रों से आज उनकी मांग बराबर आ रही है।

कर्मग्रन्थ की भाँति ही 'पंचसंग्रह' ग्रन्थ भी जैन कर्मसाहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसमें भी विस्तार पूर्वक कर्म-सिद्धान्त के समस्त अंगों का विवेचन है।

पूज्य गुरुदेव श्री मरुधरकेसरी मिश्रीमल जी महाराज जैनदर्शन के प्रौढ़ विद्वान और सुन्दर विवेचनकार थे। उनकी प्रतिभा अद्भुत थी, ज्ञान की तीव्र रुचि अनुकरणीय थी। समाज में ज्ञान के प्रचार-प्रसार में अत्यधिक रुचि रखते थे। यह गुरुदेवश्री के विद्यानुराग का प्रत्यक्ष उदाहरण है कि इतनी वृद्ध अवस्था में भी पंचसंग्रह जैसे जटिल और विशाल ग्रन्थ की व्याख्या, विवेचन एवं प्रकाशन का अद्भुत साहसिक निर्णय उन्होंने किया और इस कार्य को सम्पन्न करने की समस्त व्यवस्था भी करवाई।

जैनदशन एवं कर्मसिद्धान्त के विशिष्ट अभ्यासी श्री देवकुमार जी जैन ने गुरुदेवश्री के मार्गदर्शन में इस ग्रन्थ का सम्पादन कर प्रस्तुत किया है। इसके प्रकाशन हेतु गुरुदेवश्री ने प्रसिद्ध साहित्य-कार श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना को जिम्मेवारी सौंपी और वि० सं० २०३९ के आश्विन मास में इसका प्रकाशन-मुद्रण प्रारम्भ कर दिया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गया। गुरुदेवश्री ने श्री सुराना जी को दायित्व सौंपते हुए फरमाया—'मेरे शरीर का कोई भरोसा नहीं है, इस कार्य को शीघ्र सम्पन्न कर लो।' उस समय यह बात सामान्य लग रही थी, किसे ज्ञात था कि गुरुदेवश्री हमें इतनी जल्दी छोड़कर चले जायेंगे। किंतु क्रूर काल की विडम्बना देखिये कि ग्रन्थ का प्रकाशन चालू ही हुआ था कि १७ जनवरी १९८४ को पूज्य गुरुदेव के आकस्मिक स्वर्गवास से सर्वत्र एक स्तब्धता व रिक्तता-सी छा गई। गुरुदेव का व्यापक प्रभाव समूचे संघ पर था और उनकी दिवंगति से समूचा श्रमणसंघ ही अपूरणीय क्षति अनुभव करने लगा।

पूज्य गुरुदेवश्री ने जिस महाकाय ग्रन्थ पर इतना श्रम किया और जिसके प्रकाशन की भावना लिये ही चले गये, वह ग्रन्थ अब पूज्य गुरुदेवश्री के प्रधान शिष्य मरुधराभूषण श्री सुकनमुनि जी महाराज के मार्गदर्शन में सम्पन्न हो रहा है, यह प्रसन्नता का विषय है। श्रीयुत सुराना जी एवं श्री देवकुमार जी जैन इस ग्रन्थ के प्रकाशन-मुद्रण सम्बन्धी सभी दायित्व निभा रहे हैं और इसे शीघ्र ही पूर्ण कर पाठकों के समक्ष रखेंगे, यह दृढ़ विश्वास है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में श्रीमान् स्व. पारसमल जी मुथा (रायचूर) के परिवार ने तथा सोवनराज जी मुथा (गंगावती) ने पूर्ण अर्थ-सहयोग प्रदान किया है, आपके अनुकरणीय सहयोग के प्रति हम सदा आभारी रहेंगे।

आचार्य श्री रघुनाथ जैन शोध संस्थान अपने कार्यक्रम में इस ग्रन्थ को प्राथमिकता देकर सम्पन्न करवाने में प्रयत्नशील है।

आशा है जिज्ञासु पाठक लाभान्वित होंगे।

मन्त्री
आचार्य श्री रघुनाथ जैन शोध संस्थान
जोधपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमणसूर्य प्रवर्तक गुरूदेव
श्री मिश्रीमल जी महाराज

विद्याभिलाषी श्री सुकन मुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आमुख

जैनदर्शन के सम्पूर्ण चिन्तन, मनन और विवेचन का आधार आत्मा है। आत्मा स्वतन्त्र शक्ति है। अपने सुख-दुःख का निर्माता भी वही है और उसका फल-भोग करने वाला भी वही है। आत्मा स्वयं में अमूर्त है, परम विशुद्ध है. किन्तु वह शरीर के साथ मूर्तिमान बनकर अशुद्ध दशा में संभार में परिभ्रमण कर रहा है। स्वयं परमभ आनन्दस्वरूप होने पर भी सुख-दुःख के चक्र में पिस रहा है। अजर-अमर होकर भी जन्म-मृत्यु के प्रवाह में बह रहा है। आश्चर्य है कि जो आत्मा परम शक्तिसम्पन्न है, वही दीन-हीन, दुःखी, दरिद्र के रूप में संसार में यातना और कष्ट भी भोग रहा है। इसका कारण क्या है ?

जैनदर्शन इस कारण की विवेचना करते हुए कहता है—आत्मा को संसार में भटकाने वाला कर्म है। कर्म ही जन्म-मरण का मूल है—**कम्मं च जाई मरणस्स मूलं।** भगवान श्री महावीर का यह कथन अक्षरशः सत्य है, तथ्य है। कर्म के कारण ही यह विश्व विविध विचित्र घटनाचक्रों में प्रतिपल परिवर्तित हो रहा है। ईश्वरवादी दर्शनों ने इस विश्ववैचित्र्य एवं सुख-दुःख का कारण जहाँ ईश्वर को माना है, वहाँ जैनदर्शन ने समस्त सुख-दुःख एवं विश्ववैचित्र्य का कारण मूलतः जीव एवं उसका मुख्य सहायक कर्म माना है। कर्म स्वतन्त्र रूप से कोई शक्ति नहीं है, वह स्वयं में पुद्गल है, जड़ है। किन्तु राग-द्वेष-वशवर्ती आत्मा के द्वारा कर्म किये जाने पर वे इतने बलवान और शक्तिसम्पन्न बन जाते हैं कि कर्ता को भी अपने बन्धन में बांध लेते हैं। मालिक को भी नौकर की तरह नचाते हैं। यह कर्म की बड़ी विचित्र शक्ति है। हमारे जीवन और जगत के समस्त परिवर्तनों का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह मुख्य बीज कर्म क्या है ? इसका स्वरूप क्या है ? इसके विविध परिणाम कैसे होते हैं ? यह बड़ा ही गम्भीर विषय है। जैनदर्शन में कर्म का बहुत ही विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। कर्म का सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अत्यन्त गहन विवेचन जैन आगमों में और उत्तरवर्ती ग्रन्थों में प्राप्त होता है। वह प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में होने के कारण विद्वद्योग्य तो हैं, पर साधारण जिज्ञासु के लिए दुर्बोध है। थोकड़ों में कर्मसिद्धान्त के विविध स्वरूप का वर्णन प्राचीन आचार्यों ने गूँथा है, कण्ठस्थ करने पर साधारण तत्त्व-जिज्ञासु के लिए वह अच्छा ज्ञानदायक सिद्ध होता है।

कर्मसिद्धान्त के प्राचीन ग्रन्थों में कर्मग्रन्थ और पंचसंग्रह इन दोनों ग्रन्थों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनमें जैनदर्शन-सम्मत समस्त कर्मवाद, गुणस्थान, मार्गणा, जीव, अजीव के भेद-प्रभेद आदि समस्त जैनदर्शन का विवेचन प्रस्तुत कर दिया गया है। ग्रन्थ जटिल प्राकृत भाषा में हैं और इनकी संस्कृत में अनेक टीकाएँ भी प्रसिद्ध हैं। गुजराती में भी इसका विवेचन काफी प्रसिद्ध है। हिन्दी भाषा में कर्मग्रन्थ के छह भागों का विवेचन कुछ वर्ष पूर्व ही परम श्रद्धेय गुरुदेवश्री के मार्गदर्शन में प्रकाशित हो चुका है, सर्वत्र उनका स्वागत हुआ। पूज्य गुरुदेव श्री के मार्गदर्शन में पंचसंग्रह (दस भाग) का विवेचन भी हिन्दी भाषा में तैयार हो गया और प्रकाशन भी प्रारम्भ हो गया, किन्तु उनके समक्ष एक भी भाग नहीं आ सका, यह कमी मेरे मन को खटकती रही, किन्तु निरुपाय ! अब गुरुदेवश्री की भावना के अनुसार ग्रन्थ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है, आशा है इससे सभी लाभान्वित होंगे।

—सुकनमुनि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्पादकीय

श्रीमद्देवेन्द्रसूरि विरचित कर्मग्रन्थों का सम्पादन करने के सन्दर्भ में जैन कर्मसाहित्य के विभिन्न ग्रन्थों के अवलोकन करने का प्रसंग आया। इन ग्रन्थों में श्रीमदाचार्य चन्द्रर्षिमहत्तरकृत 'पंचसंग्रह' प्रमुख है।

कर्मग्रन्थों के सम्पादन के समय यह विचार आया कि पंचसंग्रह को भी सर्वजनसुलभ, पठनीय बनाया जाये। अन्य कार्यों में लगे रहने से तत्काल तो कार्य प्रारम्भ नहीं किया जा सका। परन्तु विचार तो था ही और पाली (मारवाड़) में विराजित पूज्य गुरुदेव मरुधरकेसरी, श्रमणसूर्य श्री मिश्रीमल जी म. सा. की सेवा में उपस्थित हुआ एवं निवेदन किया—

भन्ते ! कर्मग्रन्थों का प्रकाशन तो हो चुका है, अब इसी क्रम में पंचसंग्रह को भी प्रकाशित कराया जाये।

गुरुदेव ने फरमाया विचार प्रशस्त है और चाहता भी हूँ कि ऐसे ग्रन्थ प्रकाशित हों, मानसिक उत्साह होते हुए भी शारीरिक स्थिति साथ नहीं दे पाती है। तब मैंने कहा—आप आदेश दीजिये। कार्य करना ही है तो आपके आशीर्वाद से सम्पन्न होगा ही, आपश्री की प्रेरणा एवं मार्गदर्शन से कार्य शीघ्र ही सम्पन्न होगा।

'तथास्तु' के मांगलिक के साथ ग्रन्थ की गुरुता और गम्भीरता को सुगम बनाने हेतु अपेक्षित मानसिक श्रम को नियोजित करके कार्य प्रारम्भ कर दिया। 'शनैः कंथा' की गति से करते-करते आधे से अधिक ग्रन्थ गुरुदेव के बगड़ी सज्जनपुर चातुर्मास तक तैयार करके सेवा में उपस्थित हुआ। गुरुदेवश्री ने प्रमोदभाव व्यक्त कर फरमाया—चरैवेति-चरैवेति।

इसी बीच शिवशर्मसूरि विरचित 'कम्मपयडी' (कर्मप्रकृति) ग्रन्थ के सम्पादन का अवसर मिला। इसका लाभ यह हुआ कि बहुत से जटिल माने जाने वाले स्थलों का समाधान सुगमता से होता गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थबोध की सुगमता के लिए ग्रन्थ के सम्पादन में पहले मूलगाथा और यथाक्रम शब्दार्थ, गाथार्थ के पश्चात् विशेषार्थ के रूप में गाथा के हार्द को स्पष्ट किया है। यथास्थान ग्रन्थान्तरों, मतान्तरों के मन्तव्यों का टिप्पण के रूप में उल्लेख किया है।

इस समस्त कार्य की सम्पन्नता पूज्य गुरुदेव के वरद आशीर्वादों का सुफल है। एतदर्थ कृतज्ञ हूँ। साथ ही मरुधरारत्न श्री रजतमुनि जी एवं मरुधराभूषण श्री सुकनमुनिजी का हार्दिक आभार मानता हूँ कि कार्य की पूर्णता के लिए प्रतिसमय प्रोत्साहन एवं प्रेरणा का पाथेय प्रदान किया।

ग्रन्थ की मूल प्रति की प्राप्ति के लिए श्री लालभाई दलपतभाई संस्कृति विद्यामन्दिर अहमदाबाद के निदेशक एवं साहित्यानुरागी श्री दलसुखभाई मालवणिया का सस्नेह आभारी हूँ। साथ ही वे सभी धन्यवादार्ह हैं, जिन्होंने किसी न किसी रूप में अपना-अपना सहयोग दिया है।

ग्रन्थ के विवेचन में पूरी सावधानी रखी है और ध्यान रखा है कि सैद्धान्तिक भूल, अस्पष्टता आदि न रहे एवं अन्यथा प्ररूपणा भी न हो जाये। फिर भी यदि कहीं चूक रह गई हो तो विद्वान पाठकों से निवेदन है कि प्रमादजन्य स्खलना मानकर त्रुटि का संशोधन, परिमार्जन करते हुए सूचित करें। उनका प्रयास मुझे ज्ञानवृद्धि में सहायक होगा। इसी अनुग्रह के लिए सानुरोध आग्रह है।

भावना तो यही थी कि पूज्य गुरुदेव अपनी कृति का अवलोकन करते, लेकिन सम्भव नहीं हो सका। अतः 'कालाय तस्मै नमः' के साथ-साथ विनम्र श्रद्धांजलि के रूप में—

त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्प्यते।

के अनुसार उन्हीं को सादर समर्पित है।

खजांची मोहल्ला
बीकानेर, ३३४००१

विनीत
देवकुमार जैन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमणसंघ के भीष्म-पितामह

श्रमणसूर्य स्व. गुरुदेव श्री मिश्रीमल जी महाराज

स्थानकवासी जैन परम्परा के ५०० वर्षों के इतिहास में कुछ ही ऐसे गिने-चुने महापुरुष हुए हैं जिनका विराट् व्यक्तित्व अनन्त असीम नभोमण्डल की भांति व्यापक और सीमातीत रहा हो। जिनके उपकारों से न सिर्फ स्थानकवासी जैन, न सिर्फ श्वेताम्बर जैन, न सिर्फ जैन किन्तु जैन-अजैन, बालक-वृद्ध, नारी-पुरुष, श्रमण-श्रमणी सभी उपकृत हुए हैं और सब उस महान् विराट व्यक्तित्व की शीतल छाया से लाभान्वित भी हुए हैं। ऐसे ही एक आकाशीय व्यक्तित्व का नाम है—श्रमण-सूर्य प्रवर्तक मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमल जी महाराज !

पता नहीं वे पूर्वजन्म की क्या अखूट पुण्याई लेकर आये थे कि बाल-सूर्य की भांति निरन्तर तेज-प्रताप-प्रभाव-यश और सफलता की तेजस्विता, प्रभास्वरता से बढ़ते ही गये, किन्तु उनके जीवन की कुछ विलक्षणता यही है कि सूर्य मध्याह्न बाद क्षीण होने लगता है, किन्तु यह श्रमणसूर्य जीवन के मध्याह्नोत्तर काल में अधिक अधिक दीप्त होता रहा, ज्यों-ज्यों यौवन की नदी बुढ़ापे के सागर की ओर बढ़ती गई त्यों-त्यों उसका प्रवाह तेज होता रहा, उसकी धारा विशाल और विशालतम होती गई, सीमाएं व्यापक बनती गईं, प्रभाव-प्रवाह सौ-सौ धाराएं बनकर गांव-नगर-वन-उपवन सभी को तृप्त-परितृप्त करता गया। यह सूर्य डूबने की अंतिम घड़ी, अंतिम क्षण तक तेज से दीप्त रहा, प्रभाव से प्रचण्ड रहा और उसकी किरणों का विस्तार अनन्त असीम गगन के दिक्कोणों को छूता रहा।

जैसे लड्डू का प्रत्येक दाना मीठा होता है, अंगूर का प्रत्येक अंश मधुर होता है, इसी प्रकार गुरुदेव श्री मिश्रीमल जी महाराज का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवन, उनके जीवन का प्रत्येक क्षण, उनकी जीवनधारा का प्रत्येक जलबिन्दु मधुर मधुरतम जीवनदायी रहा । उनके जीवन-सागर की गहराई में उतरकर गोता लगाने से गुणों की विविध बहुमूल्य मणियां हाथ लगती हैं तो अनुभव होता है, मानव जीवन का ऐसा कौन सा गुण है जो इस महापुरुष में नहीं था। उदारता, सहिष्णुता, दयालुता, प्रभावशीलता, समता, क्षमता, गुणज्ञता, विद्वत्ता, कवित्वशक्ति, प्रवचनशक्ति, अदम्य साहस, अद्भुत नेतृत्वक्षमता, संघ-समाज की संरक्षणशीलता, युगचेतना को धर्म का नया बोध देने की कुशलता, न जाने कितने उदात्त गुण व्यक्तित्व सागर में छिपे थे। उनकी गणना करना असंभव नहीं तो दुःसंभव अवश्य ही है । महान तार्किक आचार्य सिद्धसेन के शब्दों में—

कल्पान्तवान्तपयसः प्रकटोऽपि यस्मात्
मीयेत केन जलधेर्ननु रत्नराशेः ।

कल्पान्तकाल की पवन से उत्प्रेरित, उचालें खाकर बाहर भूमि पर गिरी समुद्र की असीम अगणित मणियां सामने दीखती जरूर हैं, किन्तु कोई उनकी गणना नहीं कर सकता, इसी प्रकार महापुरुषों के गुण भी दीखते हुए भी गिनती से बाहर होते हैं।

जीवन रेखाएं

श्रद्धेय गुरुदेव का जन्म वि० सं० १९४८ श्रावण शुक्ला चतुर्दशी को पाली शहर में हुआ।

पांच वर्ष की आयु में ही माता का वियोग हो गया। १३ वर्ष की अवस्था में भयंकर बीमारी का आक्रमण हुआ। उस समय श्रद्धेय गुरुदेव श्री मानमलजी म. एवं स्व. गुरुदेव श्री बुधमलजी म. ने मंगलपाठ सुनाया और चमत्कारिक प्रभाव हुआ, आप शीघ्र ही स्वस्थ हो गये। काल का ग्रास बनते-बनते बच गये।

गुरुदेव के इस अद्भुत प्रभाव को देखकर उनके प्रति हृदय की असीम श्रद्धा उमड़ आई। उनका शिष्य बनने की तीव्र उत्कंठा जग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पड़ी। इस बीच गुरुदेवश्री मानमलजी म. का वि. सं. १९७५, माघ वदी ७ को जोधपुर में स्वर्गवास हो गया। वि. सं. १९७५ अक्षय तृतीया को पूज्य स्वामी श्री बुधमलजी महाराज के कर-कमलों से आपने दीक्षा-रत्न प्राप्त किया।

आपकी बुद्धि बड़ी विचक्षण थी। प्रतिभा और स्मरणशक्ति अद्‍भुत थी। छोटी उम्र में ही आगम, थोकड़े, संस्कृत, प्राकृत, गणित, ज्योतिष, काव्य, छन्द, अलंकार, व्याकरण आदि विविध विषयों का आधिकारिक ज्ञान प्राप्त कर लिया। प्रवचनशैली की ओजस्विता और प्रभावकता देखकर लोग आपश्री के प्रति आकृष्ट होते और यों सहज ही आपका वर्चस्व, तेजस्व बढ़ता गया।

वि. सं. १९८५ पौष वदि प्रतिपदा को गुरुदेव श्री बुधमलजी म. का स्वर्गवास हो गया। अब तो पूज्य रघुनाथजी महाराज की संप्रदाय का समस्त दायित्व आपश्री के कंधों पर आ गिरा। किन्तु आपश्री तो सर्वथा सुयोग्य थे। गुरु से प्राप्त संप्रदाय-परम्परा को सदा विकासोन्मुख और प्रभावनापूर्ण ही बनाते रहे। इस दृष्टि से स्थानांगसूत्र-वर्णित चार शिष्यों (पुत्रों) में आपको अभिजात (श्रेष्ठतम) शिष्य ही कहा जायेगा, जो प्राप्त ऋद्धि-वैभव को दिन दूना रात चौगुना बढ़ाता रहता है।

वि. सं. १९९३, लोंकाशाह जयन्ती के अवसर पर आपश्री को मरुधरकेसरी पद से विभूषित किया गया। वास्तव में ही आपकी निर्भीकता और क्रान्तिकारी सिंह गर्जनाएँ इस पद की शोभा के अनुरूप ही थीं।

स्थानकवासी जैन समाज की एकता और संगठन के लिए आपश्री के भगीरथ प्रयास श्रमणसंघ के इतिहास में सदा अमर रहेंगे। समय-समय पर टूटती कड़ियां जोड़ना, संघ पर आये संकटों का दूरदर्शिता के साथ निवारण करना, संत-सतियों की आन्तरिक व्यवस्था को सुधारना, भीतर में उठती मतभेद की कटुता को दूर करना—यह आपश्री की ही क्षमता का नमूना है कि बृहत् श्रमणसंघ का निर्माण हुआ, बिखरे घटक एक हो गये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किन्तु यह बात स्पष्ट है कि आपने संगठन और एकता के साथ कभी सौदेबाजी नहीं की। स्वयं सब कुछ होते हुए भी सदा ही पद-मोह से दूर रहे। श्रमणसंघ का पदवी-रहित नेतृत्व आपश्री ने किया और जब सभी का पद-ग्रहण के लिए आग्रह हुआ तो आपश्री ने उस नेतृत्व चादर को अपने हाथों से आचार्यसम्राट (उस समय उपाचार्य) श्री आनन्दऋषिजी महाराज को ओढ़ा दी। यह है आपश्री की त्याग व निस्पृहता की वृत्ति।

कठोर सत्य सदा कटु होता है। आपश्री प्रारम्भ से ही निर्भीक वक्ता, स्पष्ट चिन्तक और स्पष्टवादी रहे हैं। सत्य और नियम के साथ आपने कभी समझौता नहीं किया, भले ही वर्षों से साथ रहे अपने कहलाने वाले साथी भी साथ छोड़ कर चले गये, पर आपने सदा ही संगठन और सत्य का पक्ष लिया। एकता के लिए आपश्री के अगणित बलिदान श्रमणसंघ के गौरव को युग-युग तक बढ़ाते रहेंगे।

संगठन के बाद आपश्री की अभिरुचि काव्य, साहित्य, शिक्षा और सेवा के क्षेत्र में बढ़ती रही है। आपश्री की बहुमुखी प्रतिभा से प्रसूत सैकड़ों काव्य, हजारों पद-छन्द आज सरस्वती के शृंगार बने हुए हैं। जैन राम यशोरसायन, जैन पांडव यशोरसायन जैसे महाकाव्यों की रचना, हजारों कवित्त, स्तवन की सर्जना आपकी काव्यप्रतिभा के बेजोड़ उदाहरण हैं। आपश्री की आशुकवि-रत्न की पदवी स्वयं में सार्थक है।

कर्मग्रन्थ (छह भाग) जैसे विशाल गुरु गम्भीर ग्रन्थ पर आपश्री के निदेशन में व्याख्या, विवेचन और प्रकाशन हुआ जो स्वयं में ही एक अनूठा कार्य है। आज जैनदर्शन और कर्मसिद्धान्त के सैकड़ों अध्येता उनसे लाभ उठा रहे हैं। आपश्री के सान्निध्य में ही पंचसंग्रह (दस भाग) जैसे विशालकाय कर्मसिद्धान्त के अतीव गहन ग्रन्थ का सम्पादन विवेचन और प्रकाशन प्रारम्भ हुआ है, जो वर्तमान में आपश्री की अनुपस्थिति में आपश्री के सुयोग्य शिष्य श्री सुकनमुनि जी के निदेशन में सम्पन्न हो रहा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचन, जैन उपन्यास आदि की आपश्री की पुस्तकें भी अत्यधिक लोकप्रिय हुई हैं। लगभग ६-७ हजार पृष्ठ से अधिक परिमाण में आप श्री का साहित्य आंका जाता है।

शिक्षा क्षेत्र में आपश्री की दूरदर्शिता जैन समाज के लिए वरदान-स्वरूप सिद्ध हुई है। जिस प्रकार महामना मालवीय जी ने भारतीय शिक्षा क्षेत्र में एक नई क्रांति—नया दिशादर्शन देकर कुछ अमर स्थापनाएँ की हैं, स्थानकवासी जैन समाज के शिक्षा क्षेत्र में आपको भी स्थानकवासी जगत का 'मालवीय' कह सकते हैं। लोंकाशाह गुरुकुल (सादड़ी), राणावास की शिक्षा संस्थाएँ, जयतारण आदि के छात्रावास तथा अनेक स्थानों पर स्थापित पुस्तकालय, वाचनालय, प्रकाशन संस्थाएँ शिक्षा और साहित्य-सेवा के क्षेत्र में आपश्री की अमर कीर्ति गाथा गा रही हैं।

लोक-सेवा के क्षेत्र में भी मरुधरकेसरी जी महाराज भामाशाह और खेमा देदराणी की शुभ परम्पराओं को जीवित रखे हुए थे। फर्क यही है कि वे स्वयं धनपति थे, अपने धन को दान देकर उन्होंने राष्ट्र एवं समाज-सेवा की, आप एक अकिंचन श्रमण थे, अतः आपश्री ने धनपतियों को प्रेरणा, कर्तव्य-बोध और मार्गदर्शन देकर मरुधरा के गांव-गांव, नगर-नगर में सेवाभावी सस्थाओं का, सेवात्मक प्रवृत्तियों का व्यापक जाल बिछा दिया।

आपश्री की उदारता की गाथा भी सैकड़ों व्यक्तियों के मुख से सुनी जा सकती है। किन्हीं भी संत, सतियों को किसी वस्तु की, उपकरण आदि की आवश्यकता होती तो आपश्री निस्संकोच, बिना किसी भेदभाव के उनको सहयोग प्रदान करते और अनुकूल साधन-सामग्री की व्यवस्था कराते। साथ ही जहाँ भी पधारते वहाँ कोई रुग्ण, असहाय, अपाहिज, जरूरतमन्द गृहस्थ भी (भले ही वह किसी वर्ण, समाज का हो) आपश्री के चरणों में पहुंच जाता तो आपश्री उसकी दयनीयता से द्रवित हो जाते और तत्काल समाज के समर्थ व्यक्तियों द्वारा उनकी उपयुक्त व्यवस्था करा देते। इसी कारण गांव-गांव में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किसान, कुम्हार, ब्राह्मण, सुनार, माली आदि सभी कौम के व्यक्ति आपश्री को राजा कर्ण का अवतार मानने लग गये और आपश्री के प्रति श्रद्धावनत रहते। यही है सच्चे संत की पहचान, जो किसी भी भेदभाव के बिना मानवमात्र की सेवा में रुचि रखे, जीवमात्र के प्रति करुणाशील रहे।

इस प्रकार त्याग, सेवा, संगठन, साहित्य आदि विविध क्षेत्रों में सतत प्रवाहशील उस अजर-अमर यशोधारा में अवगाहन करने से हमें मरुधरकेसरी जी म० के व्यापक व्यक्तित्व की स्पष्ट अनुभूतियां होती हैं कि कितना विराट्, उदार, व्यापक और महान था वह व्यक्तित्व !

श्रमणसंघ और मरुधरा के उस महान संत की छत्र-छाया की हमें आज बहुत अधिक आवश्यकता थी किन्तु भाग्य की विडम्बना ही है कि विगत वर्ष १७ जनवरी, १९८४, वि० सं० २०४०, पौष सुदि १४, मंगलवार को वह दिव्यज्योति अपना प्रकाश विकीर्ण करती हुई इस धराधाम से ऊपर उठकर अनन्त असीम में लीन हो गयी थी।

पूज्य मरुधरकेसरी जी के स्वर्गवास का उस दिन का दृश्य, शव-यात्रा में उपस्थित अगणित जनसमुद्र का चित्र आज भी लोगों की स्मृति में है और शायद शताब्दियों तक इतिहास का कीतिमान बनकर रहेगा। जैतारण के इतिहास में क्या, सम्भवतः राजस्थान के इतिहास में ही किसी सन्त का महाप्रयाण और उस पर इतना अपार जन-समूह (सभी कौमों और सभी वर्ण के) उपस्थित होना यह पहली घटना थी। कहते हैं, लगभग ७५ हजार की अपार जनमेदिनी से संकुल शव-यात्रा का वह जलूस लगभग ३ किलोमीटर लम्बा था, जिसमें लगभग २० हजार तो आस-पास व गांवों के किसान बंधु ही थे, जो अपने ट्रेक्टरों, बैलगाड़ियों आदि पर चढ़कर गये थे। इस प्रकार उस महा-पुरुष का जीवन जितना व्यापक और विराट रहा, उससे भी अधिक व्यापक और श्रद्धा परिपूर्ण रहा उसका महाप्रयाण !

उस दिव्य पुरुष के श्रीचरणों में शत-शत वन्दन !

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

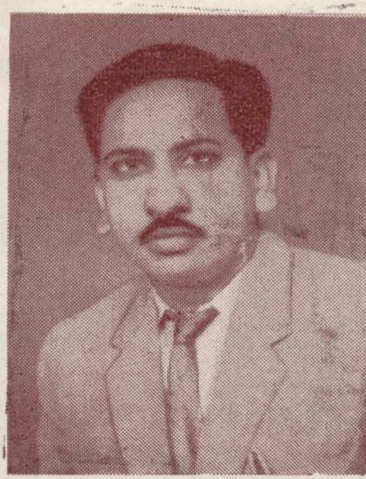

गुरु भक्त उदारमना समाजसेवी

श्रीमान सोनराज जी सा. मुथा

(गंगावती–कर्नाटक)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मप्रेमी उदार हृदय गुरु भक्त

स्व० श्रीमान पारसमल जी सा. मुथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मप्रेमी गुरुभक्त सुश्रावक
स्व. श्रीमान पारसमलजी मुथा (रायचूर)

श्रीमान पारसमलजी साहब मुथा मूलतः मोदलिया निवासी थे। आपके पिता श्रीमान हस्तीमलजी साहब मुथा बड़े ही धार्मिक व प्रभा-शाली व्यक्ति थे। पिता श्री के धार्मिक संस्कार आप में भी प्रादुर्भूत हुये। आप धर्म एवं समाज-सेवा दोनों ही क्षेत्रों में सदा सक्रिय रहे। खूब उदार हृदय से दान देना, समाज सेवा करना, तथा अन्य शुभ क्षेत्रों में लक्ष्मी का सदुपयोग करना आपकी सहज वृत्ति थी। आप हृदय से बहुत ही सरल, स्वभाव से विनम्र, और गुरुदेव श्री के प्रति अत्यन्त भक्तिमान् थे। स्व. गुरुदेव श्री मरुधरकेसरीजी महाराज के प्रति आपकी अत्यन्त श्रद्धा भक्ति थी। मरुधरकेसरी गुरु-सेवा समिति के आप अध्यक्ष भी रह चुके थे। आप दीर्घकाल तक रायचूर संघ के सभापति रहे, अ. भा. श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कांफ्रेंस के भी आप पदाधिकारी रहे तथा अनेक सामाजिक संगठनों के आप अधिकारी पद पर रहे।

रायचूर (कर्नाटक) में आपका व्यवसाय है। मै० कालूराम हस्तीमल नाम से आपकी फर्म की दूर-दूर तक प्रसिद्धि है।

आपकी तरह आपकी संतान भी दान, समाजसेवा एवं गुरुभक्ति में अग्रणी है। अनेक साहित्य प्रकाशन कार्यों में आपका महनीय सह-योग मिलता रहा है। प्रस्तुत प्रकाशन में भी आपके परिवार की तरफ से पूर्ण अर्थ सहयोग मिला है। धन्यवाद !

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुरुभक्त सुश्रावक श्रीमान सोनराजजी सा० मुथा (गंगावती)

आप मादलिया निवासी श्रीमान् जैवंतराजजी सा. मुथा के सुपुत्र हैं। आपने परिश्रमपूर्वक लक्ष्मी उपार्जन की और समाज के सभी क्षेत्रों में उसका सदुपयोग किया। आप सरल हृदय के धर्मप्रेमी श्रावक है। गुप्तदान तथा अतिथि-सेवा में आपको विशेष रुचि है। स्व. गुरुदेव श्री मरुधर केसरीजी महाराज के प्रति आपके हृदय में सदा ही असीम आस्था रही है। सेवा क्षेत्र में आपका उत्साह सभी के लिए प्रेरणा-दायी है।

आप गगावती (कर्नाटक) के प्रसिद्ध उद्योगपति है। सरस्वती ट्रेडिंग कंपनी गगावती, नाम से आपकी फर्म अपनी नीतिमत्ता व कुशल व्यवसाय के कारण सुप्रतिष्ठित है।

प्रस्तुत प्रकाशन में आपकी तर्फ से उदार अर्थ सहयोग प्राप्त हुआ है। हम आपके धर्ममय सुखी दीर्घजीवन की शुभकामना करते हुए आशा करते हैं कि आप इसी प्रकार सदा धर्म एवं समाज की महान् सेवाएँ करते रहें। □

—मंत्री

प्रकाशन समिति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राक्कथन

यह अधिकार, जैसा कि नाम से स्पष्ट है, कर्म-सिद्धान्त विवेचना से संबन्ध रखता है। इस अधिकार के पूर्व योगोपयोगमार्गणा और बंधक इन दो अधिकारों का वर्णन किया जा चुका है। जिनसे यह ज्ञात हो जाता है कि जो उपयोगनिष्ठ हैं, वे तो कभी भी बंधक होने की योग्यता वाले नहीं होते हैं, लेकिन जो जीव उपयोगवान होने के साथ अभी योग से संबद्ध हैं, वे जीव अवश्य बंध करते रहेंगे। अतः योगोपयोगयुक्त जीवों द्वारा जो बंधयोग्य है, इसका विवेचन प्रस्तुत अधिकार में किया गया है। बंधयोग्य है कर्म, इसलिये यहाँ कर्म के बारे में कुछ प्रकाश डालते हैं।

संसारस्थ प्राणियों में जो और जैसी विषमतायें व विचित्रतायें दिखती हैं, उन सबका कारण उन जीवों के मूल स्वभाव/स्वरूप से भिन्न विजातीय पदार्थ का संयोग है। जिसके लिये दर्शनशास्त्र में कर्म शब्द का प्रयोग किया है। इस कर्म के कारण ही संसार के चराचर प्राणियों में विचित्रतायें देखी जाती हैं। इस सिद्धान्त को सभी आत्मवादी दर्शनों ने एकमत से स्वीकार किया है। इस में किसी भी प्रकार से किन्तु, परन्तु के लिये अवकाश नहीं है। अनात्मवादी बौद्धदर्शन का भी यही अभिमत है। ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी दार्शनिक भी इसमें प्रायः सहमत हैं।

इस प्रकार की एकमतता होने पर भी कर्म के स्वरूप और उसके फलदान के संबन्ध में मतभिन्नतायें हैं। सामान्य तौर पर तो जो कुछ भी किया जाता है, उसे कर्म कहते हैं। जैसे कि खाना-पीना-चलना-फिरना इत्यादि। साधारणतया परलोकवादी दार्शनिकों का अभिमत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है कि हमारा प्रत्येक अच्छा या बुरा कार्य/क्रिया/प्रवृत्ति/कर्म अपना संस्कार छोड़ जाता है। जिसे नैयायिक-वैशेषिक धर्म-अधर्म के नाम से, योग कर्माशय के नाम से, बौद्ध अनुशय, वेदान्त वासना आदि के नाम से पुकारते हैं। यह संस्कार आदि फलकाल तक स्थायी रहते हैं और क्रिया/कर्म/प्रवृत्ति क्षणिक होती है। परन्तु इन दोनों का कुछ ऐसा संबन्ध जुड़ा हुआ है कि संस्कार आदि से प्रवृत्ति और प्रवृत्ति आदि से संस्कार आदि की परंपरा अनादिकाल से चली आ रही है। इसी का नाम संसार है।

इस संबन्ध में बौद्धदर्शन का अभिमत है—अविद्या के होने से संस्कार, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नाम और रूप, नाम और रूप से छह आयतन, छह आयतनों से स्पर्श स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से उपादान, उपादान से भव, भव से जन्म, जन्म से बुढ़ापा, मरना, शोक, रोना-पीटना, दुःख, बेचैनी, परेशानी होती है। इस प्रकार दुःखों की परंपरा का प्रारम्भ कब और कहाँ से हुआ? इसका पता नहीं है।

योगदर्शन में लिखा है—पांच प्रकार की वृत्तियां होती हैं। जो क्लिष्ट भी होती हैं और अक्लिष्ट भी होती हैं। क्लेश की कारणभूत वृत्तियों को क्लिष्ट कहते हैं और वे कर्माशय के संचय के लिये आधारभूत होती हैं। क्लिष्ट और अक्लिष्ट जातीय संस्कार वृत्तियों द्वारा होते हैं और वृत्तियां संस्कार से होती हैं। इस प्रकार से वृत्ति और संस्कार का चक्र सर्वदा चलता रहता है।

सांख्यकारिका का संकेत है—धर्म और अधर्म को संस्कार कहते हैं। इसी के निमित्त से शरीर बनता है। सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होने पर धर्मादिक पुनर्जन्म करने में समर्थ नहीं रहते है, फिर भी संस्कार की वजह से पुरुष संसार में रहता है। जैसे कुलाल के दंड का सम्बन्ध दूर हो जाने पर भी संस्कार के वश से चक्र घूमता रहता है। क्योंकि फल दिये बिना संस्कार का क्षय नहीं होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रशस्तपाद और न्यायमंजरीकार का भी ऐसा ही मंतव्य है..........अधर्म सहित प्रवृत्ति मूलक धर्म से देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकों में (जन्म लेकर) वारंवार संसार बंध को करता रहता है। ......संसार में ऐसा कोई कार्य नहीं है जो धर्म या अधर्म से व्याप्त न हो।

विभिन्न दार्शनिकों का कर्म के सम्बन्ध में उक्त प्रकार का दृष्टिकोण है। इसके अतिरिक्त वैशेषिक आदि कर्म को चेतननिष्ठ मानकर उसे चेतनधर्म बतलाते हैं और सांख्य-योग उसे अन्तःकरण स्थित मानकर जड़धर्म कहते हैं।

कर्म को मानते हुए भी उन-उन दर्शनों में कर्म के स्वरूप को लेकर इतनी मतभिन्नतायें होने का कारण यही है कि उन्होंने कर्मसिद्धान्त का विहंगावलोकन करने तक अपने आपको सीमित कर लिया। लेकिन जैनदर्शन के मतानुसार कर्म का स्वरूप उक्त मतों से भिन्न है। उसने कर्म का स्वरूप एकान्ततः न तो चेतननिष्ठ और न अचेतननिष्ठ माना है। अपनी प्रक्रिया के अनुसार कर्म को चेतन और जड़ उभय के परिणामरूप से उभयरूप माना है। इसी कारण जैनदर्शन के अनुसार कर्म के दो प्रकार हैं—१ द्रव्यकर्म और २ भावकर्म।

यद्यपि अन्य दर्शनों में भी इस प्रकार का विभाग पाया जाता है और भावकर्म की तुलना अन्यदर्शनों के संस्कार के साथ और द्रव्यकर्म को तुलना योगदर्शन की वृत्ति और न्यायदर्शन की प्रवृत्ति के साथ की जा सकती है। तथापि जैनदर्शन और अन्य दर्शनों के मान्य कर्म के स्वरूप में बहुत अन्तर है। जैनदर्शन ने कर्म को केवल एक संस्कार मात्र ही नहीं माना है किन्तु वह एक वस्तुभूत, यथार्थ पदार्थ भी है जो राग द्वेषयुक्त जीव की क्रिया से आकृष्ट होकर जीव के साथ उसी तरह एकमेक घुल-मिल जाता है, जैसे दूध और पानी। वह पदार्थ है तो भौतिक, किन्तु उसका कर्म नाम इसलिये है कि वह जीव के अर्थात्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रिया के कारण आकृष्ट होकर जीव के साथ संबद्ध होता है। जो भौतिक पदार्थ कर्मरूप परिणत होता है, उसे शास्त्रीय शब्दों में पुद्गल कहते हैं। वह पुद्गल द्रव्य तेईस प्रकार की वर्गणाओं में विभक्त है। वे सभी वर्गणायें कर्म रूप में परिणत नहीं होती हैं किन्तु उन वर्गणाओं में से एक कार्मणवर्गणा भी है, जो समस्त लोक में व्याप्त है। वह कार्मणवर्गणा ही जीवों के कर्म का निमित्त पाकर कर्मरूप परिणत हो जाती है और ज्ञानावरण आदि विभिन्न नामों को धारण करती है। यथा—

परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि असहम्मि रागदोसजुदो।
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहिं॥

—प्रवचनसार गा. ९

अर्थात् जब राग-द्वेष से युक्त आत्मा अच्छे या बुरे कामों में लगता है तब कर्मरूपी रज ज्ञानावरणादि रूप से उसमें प्रवेश करता है।

इस प्रकार जैनसिद्धान्त के अनुसार कर्म एक मूर्तिक पदार्थ भी है, जो जीव के साथ बंध को प्राप्त हो जाता है। आशय यह हुआ कि जहाँ अन्यदर्शन राग और द्वेष से आविष्ट जीव की प्रत्येक क्रिया को कर्म कहते हैं और उस कर्म को क्षणिक होने पर भी तज्जन्य संस्कार को स्थायी मानते हैं, वहाँ जैनदर्शन का अभिमत है कि राग-द्वेष-आविष्ट जीव की प्रत्येक क्रिया के साथ एक प्रकार का भौतिक द्रव्य आत्मा में आता है जो उसके रागद्वेष रूप परिणामों का निमित्त पाकर आत्मा से संबन्धित हो जाता है और जब तक वह द्रव्य आत्मा से संबद्ध रहता है, कालान्तर में वही आत्मा को शुभ या अशुभ फल देता है।

यह क्रम कब से चला आ रहा है? तो इसके लिये आचार्यों ने संकेत किया है—जो जीव संसार में स्थित हैं, उनके राग और द्वेष रूप भाव होते हैं और उन भावों से कर्म और कर्म से भाव होते हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीव परिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवोऽवि परिणमदि ॥
—समयप्राभृत गा. ८६

यह प्रवाह जीव के दो प्रकारों में से अभव्य की अपेक्षा अनादि-अनन्त है और भव्य जीवों की अपेक्षा अनादि-सान्त है।

उपर्युक्त कथन से ऐसा कहा जा सकता है कि कर्म के द्रव्य और भाव ये दो भेद जैनदर्शन में माने गये हैं। लेकिन ये भेद नहीं हैं, दो प्रकार हैं। इन दो प्रकारों को कहने का कारण यह है कि जैसे जीव और उसके भावों का मौलिक अस्तित्व है उसी प्रकार कर्म का भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है, वह एक सद्भूत पदार्थ है। वास्तव में तो शास्त्रकारों ने कर्म के भेद दो दृष्टियों से किये हैं—विपाक की दृष्टि से और विपाककाल की दृष्टि से। कर्म का विपाक—फलवेदन किस-किस रूप में होता है और कब होता है, प्रायः इन्हीं की मुख्यता को लेकर भेद किये गये हैं। जैसा कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि कर्म के नामों से स्पष्ट हो जाता है। इन नामों को सुनते ही यह समझ में आ जाता है कि कर्म जीव के ज्ञान आदि गुणों को आच्छादित करने रूप में अपना फल प्रदर्शित करते हैं।

यद्यपि कर्म के भेदों का साधारणतया उल्लेख तो प्रायः प्रत्येक आत्मवादी दर्शन में किया गया है। किन्तु जैनेतर दर्शनों में से योगदर्शन और बौद्धदर्शन में ही कर्माशय और उसके विपाक का कुछ वर्णन किया गया है तथा विपाक एवं विपाककाल की दृष्टि से कुछ भेद भी गिनाये हैं। परन्तु जैनदर्शनगत सर्वांगीण वर्णन की तुलना में वह वर्णन नगण्य—न कुछ जैसा है। क्योंकि जैनदर्शन में कर्म और उसके भेदों की परिभाषाएँ स्थिर कीं। कार्य-कारण की दृष्टि से कर्मतत्त्व का विविध प्रकार से वर्गीकरण किया, कर्म की फलदान शक्तियों का विवेचन किया। विपाकों की काल मर्यादाओं का विचार किया, आत्म-परिणामों के कारण उनमें क्या-क्या रूपान्तरण आदि हो सकते हैं, कर्मों के पारस्परिक सम्बन्धों का विचार किया, कौन कर्मभेद जीव-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुणों के साक्षात रूप में घातक हो सकते हैं और कौन उनके सहयोगी होकर जीव को सांसारिक अवस्थागत शरीर, इन्द्रियों के निर्माण में कारण हो सकते हैं, इत्यादि रूप से सांगोपांग वर्णन जैन कर्मसिद्धान्त में किया गया है। लेकिन ऐसा समग्रता का प्रदर्शक वर्णन दर्शनान्तरों के ग्रन्थों में देखने को नहीं मिलता है। जो निम्नांकित वर्णन से स्पष्ट हो जाता है।

अच्छा कर्म और बुरा कर्म इस प्रकार कर्म के दो भेद तो सभी जानते हैं। लोकव्यवहार में कर्म के इसी रूप में भेद समझे जाते हैं और इन्हें ही विभिन्न शास्त्रकारों ने शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप, कुशल-अकुशल, शुक्ल-कृष्ण, श्रेष्ठ-कनिष्ठ आदि नामों से कहा है। ये भेद भी किसी विशेष अर्थ को स्पष्ट करते हों, ऐसे नहीं हैं, मात्र एक लोक-रूढ़ि की पूर्ति करते हैं। इसके सिवाय भी विभिन्न दर्शनकारों ने विभिन्न दृष्टियों से कर्म के भेद किये हैं। जैसे कि गीता में सात्विक, राजस और तामस भेद पाये जाते हैं, जो पूर्वोक्त भेदों में ही गर्भित हो जाते हैं। वेदान्तदर्शन में कर्म के प्रारब्ध कार्य और अनारब्ध कार्य ये दो भेद किये हैं। योगदर्शन में कर्माशय के दो भेद किये हैं—दृष्ट-जन्मवेदनीय, अदृष्ट-जन्मवेदनीय। जिस जन्म में कर्म का संचय किया है, उसी जन्म में यदि वह फल देता है तो उसे दृष्ट-जन्मवेदनीय कहते हैं और यदि दूसरे जन्म में फल देता है तो उसे अदृष्ट-जन्मवेदनीय कहते हैं। फिर दोनों में से प्रत्येक के दो भेद और किये हैं—नियत विपाक, अनियत विपाक। बौद्धदर्शन में कर्म के भेद कई प्रकार से गिनाये हैं। जैसे कि सुखवेदनीय, दुःखवेदनीय और न दुःख-सुखवेदनीय तथा कुशल, अकुशल और अव्याकृत। किन्तु दोनों के आशय में अन्तर नहीं है, एक ही है—जो सुख का अनुभव कराये, जो दुःख का अनुभव कराये और जो न दुःख का और न सुख का अनुभव कराये। प्रथम तीन भेदों के भी दो भेद हैं—एक नियत और दूसरा अनियत। नियत के तीन भेद हैं—दृष्टधर्मवेदनीय, उपपद्यवेदयोन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और अपरपर्यायवेदनीय । अनियत के दो भेद हैं—विपाककाल अनियत और अनियत विपाक । दृष्टधर्मवेदनीय के दो भेद हैं—सहसा-वेदनीय और असहसावेदनीय । शेष भेदों के भी चार भेद हैं—विपाक-कालनियत विपाक-अनियत, विपाकनियत विपाक-कालअनियत, नियत-विपाक, नियतवेदनीय और अनियत-विपाक अनियतवेदनीय ।

इस प्रकार से दर्शनान्तरों में कर्म के भेद किये गये हैं। बौद्धदर्शन के भेदों में फलदान की दृष्टि से भी कर्म के कुछ भेदों का संकेत किया है. लेकिन अपेक्षित स्पष्टता का अभाव है। बौद्ध के अतिरिक्त अन्य वैदिक दर्शनों में साधारणतया फलदान की दृष्टि से कर्म के संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण ये तीन भेद किये जाते हैं। किसी के द्वारा इस क्षण किया गया हो या पूर्व जन्म में, वह सब संचित कहा जाता है। संचित का अपर नाम अदृष्ट और मीमांसकों के अनुसार अपूर्व है। संचित में से जितने कर्मों के फलों को भोगना पहले शुरू होता है, उतने को ही प्रारब्ध कहते हैं। क्रियमाण का अर्थ है जो कर्म अभी हो रहा है। परन्तु यह प्रारब्ध का ही परिणाम होने से लोकमान्य तिलक ने स्वीकार नहीं किया है।

अब जैनदर्शन की दृष्टि से कर्म के भेदों आदि के लिए संक्षेप में विचार करते हैं।

जैसा कि प्रारम्भ में बताया जा चुका है कि जैनदर्शन में कर्म से आशय संसारी जीव की क्रिया के साथ-साथ उसकी ओर आकृष्ट होने वाले कार्मणवर्गणा रूप भौतिक पदार्थ से है। वे कार्मणवर्गणा के परमाणु जीव की प्रत्येक क्रिया के समय आत्मा की ओर आकृष्ट होते हैं। इन को आकर्षित करने में कारण है जीव की योगशक्ति। इस योगशक्ति द्वारा आकृष्ट हुए कर्मपरमाणु जीव के द्वारा राग-द्वेष, मोह आदि भावों का, जिन्हें जैनदर्शन में कषाय कहते हैं, निमित्त पाकर आत्मा से बंध जाते हैं। इस तरह कर्मपरमाणुओं के आत्मा तक लाने का कार्य योगशक्ति और बन्ध कराने का कार्य कषाय—रागद्वेष रूप भाव करते हैं। यदि कषाय नष्ट हो जाये तो योग के रहने तक कर्मपरमाणुओं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का आस्रव तो हो सकता है किन्तु कषाय के अभाव में वे वहाँ ठहर नहीं सकेंगे। जिसको इस प्रकार समझा जा सकता है—योग वायु-स्थानीय है, कषाय गोंद या अन्य कोई चिपकाने वाला पदार्थ है और कर्म-परमाणु धूलिरूप हैं तथा जीव मकान रूप है। अतएव यदि वायु होगी तो मकान में धूलिकण अधिक से अधिक प्रवेश करेंगे और यदि मकान में चिपकाने वाला पदार्थ लगा है तो वे धूलिकण वहाँ आकर चिपक जायेंगे। यदि वायु और चिपकाने वाले पदार्थ की तीव्रता-प्रचुरता है तो धूलिकण अधिक आकर अधिक मात्रा में और अधिक समय तक चिपकेंगे और मंदता है तो उसी परिमाण में उनका रूप होगा। यही बात योग और कषाय के बारे में जानना चाहिये। योगशक्ति जिस स्तर की होगी, आकृष्ट होने वाले कर्म परमाणुओं का परिमाण भी उसी के अनुसार होगा और इसी तरह कषाय यदि तीव्र होती है तो कर्मपरमाणु आत्मा के साथ अधिक समय तक बंधे रहते हैं और फल भी तीव्र ही देते हैं। इसके विपरीत अल्प योग और कषाय के कारण अल्प कर्मपरमाणु बंधते हैं और फल भी मंद देते हैं। सारांश यह हुआ कि योग और कषाय जीव के पास कर्म परमाणुओं के लाने और फल देने के कारण हैं तथा योग के द्वारा कर्म परमाणुओं का स्वभाव निर्मित होता है तथा प्रदेशसंचय होता है तथा कषाय के द्वारा आत्मा के साथ कर्म परमाणुओं के बंधे रहने की कालमर्यादा और फलदान शक्ति का निर्धारण होता है। इस सबको शास्त्रीय शब्दों में प्रकृतिबंध, स्थिति-बंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध कहते हैं। स्वभाव को प्रकृति, बंधने वाले कर्म परमाणुओं की संख्या को प्रदेश, काल की मर्यादा को स्थिति और फलदानशक्ति को अनुभाग कहते हैं।

इन बंधों में से प्रकृतिबंध के आठ भेद हैं—ज्ञानावरण, दर्शना-वरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय। ज्ञानावरण आत्मा के ज्ञान गुण को आच्छादित-घातता है। दर्शनावरण आत्मा के दर्शनगुण का घात करता है। वेदनीय सांसारिक सुख-दुःख का वेदन-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुभव करता है। मोहनीय आत्मा को मोहित करता है, उसे यथार्थ का भान नहीं होने देता है और यदि भान हो भी जाये तो तदनुसार यथार्थ मार्ग पर चलने नहीं देता है। आयुकर्म अमुक समय तक जीव को किसी एक शरीर में रोके रहता है और छिन्न हो जाने पर शरीरान्तर को ग्रहण करने की ओर जीव उन्मुख होता है। नामकर्म के कारण शरीर, इन्द्रियों आदि की रचना होती है। गोत्र जीव को उच्च-नीच कुल का कहलाने का कारण है और अन्तरायकर्म के कारण इच्छित वस्तु की प्राप्ति में विघ्न पड़ता है। फिर इन आठ कर्मों के उत्तर भेद किये हैं। सरलता से समझाने के लिए जिनकी संख्या एक सौ अड़तालीस या एक सौ अट्ठावन मानी है। इन आठ कर्मों और उनके उत्तर भेदों का विचार करना प्रस्तुत अधिकार का वर्ण्य-विषय है।

जैनदर्शन में वर्णित इन भेदों की तुलना के योग्य कर्म के कोई भेद दर्शनान्तरों में नहीं पाये जाते हैं। यद्यपि योगदर्शन में कर्म का विपाक तीन रूपों में बताया है—जन्म, आयु, और भोग, किन्तु अमुक कर्म जन्म, अमुक कर्म आयु और अमुक भोग के रूप में फल देता है, यह बात नहीं बताई है। यदि इनकी तुलना जैनदर्शन गत कर्मभेदों से करें तो आयुविपाक वाले कर्माशय की आयुकर्म से और जन्म-विपाक वाले कर्माशय की नामकर्म से तुलना की जा सकती है। किन्तु वहाँ तो इतना ही संकेत है कि सभी कर्माशय मिलकर तीन रूप फल देते हैं, इत्यादि। इस विषय में विस्तृत विवेचन अपेक्षित है। किन्तु यहाँ तो संकेत मात्र करना पर्याप्त होने से विशेष लिखने का अवकाश नहीं है।

योगदर्शन में जो कर्माशय का विपाक तीन रूपों में बताया है वे कर्म की विविध अवस्थायें हो सकती हैं। जैनदर्शन में इन अवस्थाओं का विस्तार से वर्णन किया गया है। वे अवस्थायें दस हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बन्ध, संक्रमण, उद्वर्तन, अपवर्तन, उदीरणा, उपशम, निधत्ति, निकाचना, उदय और सत्ता। इन दस अवस्थाओं में आदि की आठ अवस्थाओं के निर्माण के हेतु जीव परिणाम हैं और अन्तिम दो में बद्ध कर्मपरमाणु हेतु हैं। इनका विस्तृत वर्णन आगे के अधिकारों में किया जा रहा है। जिससे स्पष्ट और विशद जानकारी हो सकेगी। इसके अतिरिक्त जैनदर्शन में कर्म का स्वामी, कर्म की स्थिति, कब कौन प्रकृति बंधती है, किसका उदय होता है, किसकी सत्ता रहती है किसका क्षय होता है, आदि कर्म विषयक प्रत्येक अंग का वर्णन किया है।

अन्य दर्शनों में कर्म विषयक चर्चा का संकेत मात्र होने का कारण यह है कि उन्होंने उसको कोई स्वतंत्र विषय नहीं समझा, जिससे उसकी चर्चा के लिये साहित्यनिर्माण की ओर ध्यान नहीं दिया। लेकिन जैनदर्शन अध्यात्मवादी दर्शन है। आत्मा के विकास, आत्मा के शुद्ध स्वरूप का वर्णन करना उसका लक्ष्य है और आत्मा के विकास और शुद्ध स्वरूप का वर्णन तभी किया जा सकता है जबकि अवरोधक कारणों का ज्ञान हो जाये और अवरोधक कारण हैं कर्म। इसीलिये जैनदर्शन में कर्म का विस्तार से वर्णन किया है। जैनसाहित्य में कर्म विषयक साहित्य का स्वतन्त्र और महत्त्वपूर्ण स्थान है।

इस प्रकार से कर्म सम्बन्धी कतिपय बिन्दुओं पर प्रकाश डालने के अनन्तर अब अधिकार के वर्ण्य विषय के लिये संक्षेप में प्रकाश डालते हैं।

विषयप्रवेश

अधिकार को प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम कर्मों की मूल प्रकृतियों का और उसके बाद प्रत्येक की उत्तर प्रकृतियों की संख्या का निर्देश किया है। तत्पश्चात् प्रत्येक कर्म की उत्तर प्रकृतियों के नाम और लक्षण बतलाये हैं। यथाप्रसंग सम्बन्धित प्रश्नों का समाधान भी किया है। यह सब वर्णन आदि की तेरह गाथाओं में है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसके पश्चात् उत्तर प्रकृतियों के वर्गीकरण की संज्ञाओं के नाम देकर प्रत्येक संज्ञा में गर्भित प्रकृतियों के नाम और गर्भित करने के कारण को स्पष्ट किया है। यह सब विचार चौदह से चौबीस गाथा तक में किया है।

तत्पश्चात् गाथा पच्चीस से प्रकृतियों में संभव भावों और उनके सद्भाव से जन्य गुणों का उल्लेख कर भावों संबन्धी कतिपय जिज्ञासाओं का समाधान किया है। फिर देश सर्वघाति रसस्पर्धकों को बताया है। रसस्थानबंध के हेतु प्रकारों को स्पष्ट करने के अनन्तर शुभाशुभ रस को उपमित किया है। इसी के बीच ध्रुवबंधी आदि संज्ञाओं के लक्षण आदि का निरूपण किया है और हेतुविपाका प्रकृतियों विषयक प्रश्नों की मीमांसा की है तथा प्रासंगिक रूप में सम्बन्धित अन्य विषयों का भी वर्णन किया है। जो गाथा चौवन में जा कर पूर्ण हुआ है।

तदनन्तर एक दूसरे प्रकार से भी प्रकृतियों के वर्गीकरण की संज्ञाओं के नामों के लिए अन्यकर्तृक गाथा देकर उन वर्गों में प्रकृतियों के नामों और ग्रहण करने के कारण को स्पष्ट किया है। यह वर्णन गाथा छियासठ तक में पूर्ण हुआ है और इसके साथ ही अधिकार भी पूर्ण हुआ।

इस संक्षिप्त रूपरेखा में बंधव्य संबन्धी प्रायः सभी विषयों का समावेश हो गया है। विस्तार से समझने के लिये पाठकगण अधिकार का अध्ययन करें, यह अपेक्षा है।

—देवकुमार जैन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषयानुक्रमणिका

गाथा १ ३—१०

मूल कर्मप्रकृतियों के नाम ४
मूल कर्मप्रकृतियों के लक्षण ४
ज्ञानावरणादि का क्रमविन्यास ७

गाथा २ १०—११

कर्मों की उत्तर प्रकृतियों की संख्या १०

गाथा ३ ११—१४

ज्ञानावरणकर्म की उत्तर प्रकृतियां एवं उनके लक्षण १२
अन्तरायकर्म की उत्तर प्रकृतियां एवं उनके लक्षण १२

गाथा ४ १४—१६

दर्शनावरणकर्म की उत्तर प्रकृतियों के चार, छह और नौ भेद की विवक्षा का कारण १५
चक्षुदर्शनावरण आदि के लक्षण १५
निद्राओं को दर्शनावरण में ग्रहण करने का कारण १८

गाथा ५ १६—२८

मोहनीय की उत्तर प्रकृतियों की संख्या १६
कषायमोहनीय प्रकृतियों के नाम व लक्षण १६
अनन्तानुबंधि आदि कषायों सम्बन्धी दृष्टान्त २१
नोकषायों को कषायसहचारी मानने का कारण २२
नव नोकषायों के नाम व उनके लक्षण २३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दर्शनमोहनीय के भेद व उनके लक्षण २५
आयु, वेदनीय और गोत्र कर्म की उत्तर प्रकृतियां व उनके लक्षण २६

गाथा ६ २८—४०

नामकर्म की पिण्ड प्रकृतियों के नाम २८
गतिनामकर्म के भेद व उनके लक्षण २८
जातिनामकर्म के भेद व उनके लक्षण २६
शरीरनामकर्म के भेद व उनके लक्षण ३०
अंगोपांगनामकर्म के भेद व उनके लक्षण ३२
बंधननामकर्म का लक्षण ३३
संघातननामकर्म का लक्षण ३३
संहनननामकर्म के भेद व उनके लक्षण ३३
संस्थाननामकर्म के भेद व उनके लक्षण ३४
वर्णचतुष्क के भेद व उनके लक्षण ३६
आनुपूर्वीनामकर्म के भेद व उनके लक्षण ३८
विहायोगतिनामकर्म के भेद व उनके लक्षण तथा विहायस् शब्द की उपयोगिता ३६

गाथा ७ ४०—४३

आठ अप्रतिपक्ष प्रत्येक प्रकृतियों के नाम व उनके लक्षण ४०
उच्छ्वास नामकर्म को मानने में हेतु ४२

गाथा ८ ४३—५४

सप्रतिपक्ष बीस प्रत्येक प्रकृतियों के नाम ४४
त्रसदशक और स्थावरदशक में गर्भित प्रकृतियों के नाम ४४
प्रतिपक्ष सहित बीस प्रकृतियों के लक्षण ४५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्येक और साधारण नामकर्म विषयक शंका-समाधान ४७
शुभ और अशुभ नामकर्म सम्बन्धी शंका-समाधान ५१

गाथा ९ ५४—५५
पिण्ड प्रकृतियों के अवान्तर भेदों की संख्या ५४

गाथा १० ५५—५७
बंध, उदय और सत्ता में प्रकृतियों की संख्याभिन्नता का विवक्षा कारण ५६

गाथा ११ ५८—६२
बंधननामकर्म के पन्द्रह भेद मानने में हेतु ५९
बंधननामकर्म के पन्द्रह भेदों के लक्षण ५९

गाथा १२ ६२—६५
संघातननामकर्म के पांच भेद मानने सम्बन्धी शंका-समाधान ६२
संघातननामकर्म के पांच भेदों के लक्षण ६४

गाथा १३ ६५-६६
अशुभ और शुभ वर्णचतुष्क के उत्तर भेदों के नाम ६६

गाथा १४ ६७-६९
वर्गीकरण की संज्ञाओं के नाम ६७
संक्षेप में ध्रुवबंधिनी आदि संज्ञाओं के लक्षण ६८

गाथा १५ ७०-७४
ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के नाम ७०
ध्रुवबंधिनी मानने का कारण ७१
अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के नाम ७२
अध्रुवबंधिनी मानने का कारण ७३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा १६ ७४-७५

ध्रुवोदया प्रकृतियों के नाम ७४

ध्रुवोदया मानने का कारण ७५

अध्रुवोदया प्रकृतियों के नाम ७५

अध्रुवोदया मानने का कारण ७५

गाथा १७ ७६

घाति, अघाति प्रकृतियों के नाम ७६

गाथा १८ ७७-८०

सर्वघति व देशघाति मानने का कारण ७७

गाथा १६ ८१

देशघाति प्रकृतियों के नाम ८१

गाथा २० ८२-८३

परावर्तमान, अपरावर्तमान प्रकृतियों के नाम व मानने का कारण ८२

गाथा २१, २२ ८३-८५

शुभ अशुभ प्रकृतियों के नाम ८४

गाथा २३, २४ ८५-९१

पुद्गलविपाकी प्रकृतियों के नाम व मानने कारण ८६

भवविपाकी प्रकृतियों के नाम व मानने का कारण ८८

क्षेत्रविपाकी प्रकृतियों के नाम व मानने का कारण ८८

जीवविपाकी प्रकृतियों के नाम व मानने का कारण ८९

सभी प्रकृतियों को जीवविपाकी न मानने में हेतु ९०

गाथा २५ ९१-९५

औपशमिक आदि पांच भावों के लक्षण ९१

प्रत्येक कर्म में संभव भाव ९३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा २६ ६५-६८

उपशम व क्षयोपशम भाव से प्राप्त गुणों का निर्देश ६६
चारित्र को पहले ग्रहण करने में हेतु ६६
क्षायिक भाव से प्राप्त गुणों का निर्देश ६७
औदयिक भावजन्य जीव की अवस्थाओं का निर्देश ६७

गाथा २७ ६८-१०१

पारिणामिक भावापेक्षा मूल कर्मों के सादि-आदि भंग ९९
उत्तर प्रकृतियों के सादि-आदि भंग ९९

गाथा २८ १०१-१०६

प्रकृतियों के उदय में क्षयोपशमभाव की संभावना एवं तत्सम्बन्धी शंका-समाधान १०२
क्षयोपशम के दो अर्थ १०५

गाथा २९ १०६-१०८

रसस्पर्धकों के प्रकार १०६
सर्वघाति और देशघाति प्रकृतियों के रसस्पर्धक १०७

गाथा ३० १०८-११०

औदयिक भाव के शुद्ध और क्षयोपशम भाव युक्त होने में हेतु १०८

गाथा ३१ ११०-११२

बंधापेक्षा प्रकृतियों में सम्भव रसस्पर्धक ११०

गाथा ३२ ११३-११४

रसस्थानक बंध के हेतुओं के प्रकार ११३

गाथा ३३ ११५-११६

शुभ और अशुभ रस की उपमा ११५
रस की शक्ति का निरूपण ११६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा ३४ — ११६-१२०

ध्रुवाध्रुवसत्ताका प्रकृतियां और मानने में हेतु — ११७
अनन्तानुबंधिकषायों को ध्रुवसत्ताका मानने में हेतु — ११८

गाथा ३५ — १२१-१२२

उद्वलन प्रकृतियों के नाम और मानने में हेतु — १२१

गाथा ३६ — १२३-१२४

ध्रुव और अध्रुवबंधि पद का अर्थ — १२३
अध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के नाम और अध्रुवबंधिनी मानने का कारण — १२३

गाथा ३७ — १२५-१२६

प्रकृतियों के उदयहेतु — १२५

गाथा ३८ — १२६-१२७

ध्रुवाध्रुवोदयत्व का अर्थ — १२७

गाथा ३९ — १२७-१२८

शुभ, अशुभ, सर्वघाति आदि पदों का अर्थ और कारण — १२७

गाथा ४०, ४१ — १२९-१३२

सर्व और देश घाति रस का स्वरूप तथा उसके लिए प्रदत्त उपमायें — १३०

गाथा ४२ — १३२-१३३

अघाति रस का स्वरूप — १३२

गाथा ४३ — १३३-१३४

संज्वलनकषायचतुष्क और नोकषायों को देशघाति मानने का कारण — १३४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा—४४ १३४-१३६

परावर्तमान पद का अर्थ व तद्गत प्रकृतियों के नाम व मानने का कारण १३५

अपरावर्तमान पद का अर्थ व तद्गत प्रकृतियों के नाम १३५

गाथा ४५ १३७-१३८

विपाक की अपेक्षा प्रकृतियों के भेद १३७

गाथा ४६ १३८-१३९

हेतुविपाका प्रकृतियों संबन्धी वक्तव्य १३९

गाथा ४७ १३९-१४१

पुद्गलविपाकित्व विषयक समाधान १४०

गाथा ४८ १४१-१४३

भवविपाकित्व विषयक समाधान १४२

गाथा ४९ १४३-१४४

क्षेत्रविपाकित्व विषयक समाधान १४३

गाथा ५० १४४-१४५

जीवविपाकित्व विषयक समाधान १४५

गाथा ५१ १४५-१४७

रसविपाकित्व विषयक प्रश्न १४६

गाथा ५२, ५३ १४७-१५०

रसविपाकित्व विषयक प्रश्नों के उत्तर १४८

गाथा ५४ १५०-१५१

उत्कृष्ट स्थितिबंध योग्य अध्यवसायों द्वारा एकस्थानक रसबन्ध क्यों नहीं ? १५०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा ५५ — १५२-१५६

ध्रुवसत्ताका प्रकृतियों के नाम एवं सत्ता विषयक प्रश्नोत्तर — १५२

प्रकारान्तर से प्रकृतियों के वर्गीकरण की संज्ञाओं के नाम — १५४

स्वानुदयबंधिनी आदि पदों के अर्थ — १५५

गाथा ५६ — १५६-१५७

स्वानुदयबंधिनी आदि त्रिकगत प्रकृतियां और उनको उन वर्गों में ग्रहण करने का कारण — १५७

गाथा ५७, ५८ — १५९-१६४

समकव्यवच्छिद्यमानबंधोदया प्रकृतियों के नाम और मानने का कारण — १६०

क्रमव्यवच्छिद्यमानबंधोदया प्रकृतियों के नाम और मानने का कारण — १६१

उत्क्रमव्यवच्छिद्यमान बंधोदया प्रकृतियों के नाम व मानने का कारण — १६४

गाथा ५९, ६०, ६१ — १६५-१६९

निरन्तरबंधिनी प्रकृतियों के नाम व मानने में हेतु — १६७

सान्तर-निरंतरबंधिनी प्रकृतियों के नाम और मानने में हेतु — १६७

सांतरबंधिनी प्रकृतियों के नाम और मानने में हेतु — १६८

गाथा ६२ — १६९-१७१

उदयबंधोकृष्टादि के लक्षण — १७०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथा ६३ १७१-१७३
उदयसंक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों के नाम व मानने में हेतु १७२
गाथा ६४ १७३-१७४
अनुदयसंक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों के नाम व मानने में हेतु १७४
गाथा ६५ १७५-१७७
अनुदयबंधोत्कृष्टा प्रकृतियों के नाम व मानने में हेतु १७५
उदयबंधोत्कृष्टा प्रकृतियों के नाम व मानने में हेतु १७६
गाथा ६६, ६७ १७७-१८१
अनुदयवतित्व और उदयवतित्व का लक्षण १७८
उदयवती प्रकृतियों के नाम व मानने में हेतु १७९
अनुदयवती प्रकृतियों के नाम व मानने में हेतु १८०
परिशिष्ट
बंधव्यप्ररूपणा अधिकार की मूल गाथाएँ १८२
बंधव्य प्ररूपणा अधिकार का गाथा-अकाराद्यनुक्रम १८८
गति और जाति नामकर्म को पृथक्-पृथक् मानने में हेतु १९१
ध्रुवबंधि आदि वर्गों में गर्भित प्रकृतियों का प्रारूप १९३
(तालिकाएँ)—संलग्न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीमदाचार्य चन्द्रर्षिमहत्तर-विरचित

पंचसंग्रह

(मूल, शब्दार्थ तथा विवेचन युक्त)

बंधव्य-प्ररूपणा अधिकार

३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. बंधव्य-प्ररूपणा अधिकार

बंधक-प्ररूपणा नामक द्वितीय अधिकार का प्रतिपादन करने के पश्चात् अब क्रमप्राप्त बंधव्य-प्ररूपणा अधिकार का विवेचन प्रारम्भ करते हैं।

पूर्व में बताये गये चौदह प्रकारों में वर्गीकृत जीवों के द्वारा बांधने योग्य क्या है ? बंध किसका करते हैं ? उसका विचार इस अधिकार में किया जायेगा। बंधयोग्य कर्म हैं। अतः कर्म का सांगोपांग विवेचन करने और सरलता से समझने के लिए उसके उत्तरभेदों का कथन प्रारम्भ करने के पूर्व मूलभेदों को बतलाते हैं। क्योंकि मूलभेदों का ज्ञान होने पर उत्तरभेदों को सरलता से जाना जा सकता है। कर्मों के मूलभेद इस प्रकार हैं—

कर्मों की मूलप्रकृतियां

नाणस्स दंसणस्स य आवरणं वेयणीय मोहणीयं।
आउ य नामं गोयं तहंतरायं च पयडीओ ॥१॥[1]

शब्दार्थ—**नाणस्स**—ज्ञान का, **दंसणस्स**—दर्शन का, **य**—और, **आवरणं**—आवरण, **वेयणीय**—वेदनीय, **मोहणीयं**—मोहनीय, **आउ**—आयु, **य**—और, **नामं**—नाम, **गोयं**—गोत्र, **तह**—तथा, **अंतरायं**—अन्तराय, **च**—और, **पयडीओ**—प्रकृतियां।

---

१ तुलना कीजिये—

णाणस्स दंसणस्स य आवरणं वेयणीय मोहणीयं।
आउग णामागोदं तहंतरायं च मूलाओ ॥

—दि. पंचसंग्रह २।२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथार्थ—ज्ञान और दर्शन का आवरण—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र तथा अन्तराय ये कर्म की आठ मूल प्रकृतियां हैं।

विशेषार्थ—संसारी जीव द्वारा प्रति समय कार्मणवर्गणा के पुद्गलों का ग्रहण किया जा रहा है और ग्रहण की जा रही कर्म-पुद्गल-राशि में जीव की पारिणामिकपरिणति-अध्यवसायशक्ति की विविधता से अनेक प्रकार के स्वभावों का निर्माण होता है। ये स्वभाव अदृश्य हैं और जिनके परिणमन की अनुभूति उनके कार्यों के प्रभाव को देखकर की जाती है। जैसे कि कर्मों के अनुभव के असंख्य प्रकार हैं तो उसका निर्माण करने वाले जीवस्वभाव भी असंख्य हैं। फिर भी संक्षेप में उन सभी का आठ भागों में वर्गीकरण करके गाथा में नाम बतलाये हैं कि—

(१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयु, (६) नाम, (७) गोत्र और (८) अंतराय।[1]

असंख्य कर्मप्रभावों का इन आठ नामों में वर्गीकरण करने का कारण यह है कि जिज्ञासुजन सरलता से कर्मसिद्धान्त को समझ सकें।

ज्ञानावरण आदि उक्त आठ कर्मों के लक्षण इस प्रकार हैं—

ज्ञानावरणकर्म—जीवादिक पदार्थ जिसके द्वारा जाने जाते हैं, उसे ज्ञान कहते हैं। अथवा जिसके द्वारा वस्तु का ज्ञान हो, यानी नाम, जाति, गुण, क्रिया आदि सहित विशेष बोध जिसके द्वारा हो, उसे ज्ञान और जिसके द्वारा आच्छादन हो—उसे आवरण कहते हैं। यानि मिथ्यात्वादि हेतुओं की प्रधानता वाले जीव व्यापार द्वारा ग्रहण की

---

१ आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुष्कनामगोत्रान्तरायाः।

—तत्त्वार्थसूत्र ८।५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुई कार्मणवर्गणाओं के विशिष्ट पुद्गलसमूह को आवरण कहते हैं। अतः ज्ञान को आच्छादित करने वाला पुद्गलसमूह ज्ञानावरण है।

दर्शनावरणकर्म—जिसके द्वारा पदार्थ देखा जाये, अवलोकन किया जाये, उसे दर्शन कहते हैं।[1] यानी नाम, जाति आदि विशेषों के बिना वस्तु का जो सामान्य बोध हो, वह दर्शन है। अथवा वस्तु के सामान्य-विशेषात्मक रूप में से सामान्य धर्म को ग्रहण करने वाले बोध को दर्शन कहते हैं। इस दर्शन को आच्छादित करने वाले पुद्गल-समूह को दर्शनावरणकर्म कहते हैं।

वेदनीयकर्म—संसारी जीवों के द्वारा सुख-दुःख रूप में जिसका अनुभव हो उसे वेदनीयकर्म कहते हैं। वैसे तो सभी कर्म अपना-अपना वेदन कराते हैं लेकिन वेदनीय शब्द पंकज आदि शब्दों की तरह रूढ़ अर्थ वाला होने से साता और असाता—सुख-दुःख रूप में जो अपना अनुभव कराता है वही वेदनीय कहलाता है, शेष कर्म वेदनीय नहीं कहलाते हैं।

मोहनीयकर्म—जो प्राणियों को मोहित करता है, सदसद् विवेक-विकल करता है, रहित करता है, उसे मोहनीयकर्म कहते हैं। अथवा जो कर्म आत्मा के सम्यक्त्व-स्वरूपबोध और चारित्रस्वरूप गुण के लाभ में व्यवधान डालता है, जिससे कि मैं कौन हूँ, मेरा स्वरूप क्या है, पर क्या है और पर का स्वरूप क्या है, ऐसा भेदविज्ञान न होने दे, उसे मोहनीयकर्म कहते हैं।

आयुकर्म—जिसके वश चतुर्गति-समापन्न प्राणी भव से भवान्तर में जाते हैं, अथवा जिसके द्वारा अमुक-अमुक गति में अमुक काल तक

---

१ **जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं।**
अविसेसिदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णए समए॥

—कर्मप्रकृति ४३

आत्मा रहे, अपने किये हुए कर्मों के द्वारा प्राप्त हुई नरकादि दुर्गति में से निकलने की इच्छा होने पर भी जो अटकावे, प्रतिबंधकपने को प्राप्त हो और देवादि गति में रहने की इच्छा होने पर भी जीव न रह सके, उसे आयुकर्म कहते हैं। अथवा एक भव से दूसरे भव में जाती हुई आत्मा को जिसका अवश्य उदय हो उसे आयुकर्म कहते हैं। आयुकर्म के कारण ही तत्तत् भव की प्राप्ति होती है।

नामकर्म—अधम, मध्यम या उत्तम आदि गतियों में प्राणी को जो उन्मुख करता है। अथवा जो कर्म आत्मा को गति, जाति आदि अनेक पर्यायों का अनुभव कराता है, उसे नामकर्म कहते हैं।

गोत्रकर्म—उच्च और नीच शब्द द्वारा बोला जाये, ऐसी उच्च और नीच कुल में उत्पन्न होने रूप आत्मा की पर्यायविशेष को गोत्र-कर्म कहते हैं और उस पर्याय की प्राप्ति में हेतुभूत कर्म भी कारण में कार्य का आरोप होने से गोत्रकर्म कहलाता है। अथवा जिसके उदय से आत्मा का उच्च और नीच शब्द द्वारा व्यवहार हो, वह गोत्रकर्म कहलाता है।

अन्तरायकर्म—लाभ तथा दानादि का व्यवधान-अन्तर करने के लिए जो कर्म प्राप्त होता है यानी जिस कर्म के उदय से जीव दानादि न कर सके, उसे अन्तरायकर्म कहते हैं।

इस प्रकार से कर्मों की आठ मूल प्रकृतियां हैं। यद्यपि प्रकृति शब्द के स्वभाव, शील, भेद आदि अनेक अर्थ हैं, उनमें से यहाँ प्रकृति शब्द का 'भेद' अर्थ ग्रहण किया गया है।[1] जिसका यह अर्थ हुआ कि कर्म के ज्ञानावरणादि उक्त आठ मूलभेद हैं।

---

१ दिगम्बर कर्मसाहित्य में प्रकृति शब्द का शील, स्वभाव अर्थ ही उल्लिखित मिलता है। यथा—

पयडी सील सहावो।

—गोम्मटसार कर्मकांड, गाथा ३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानावरणादि का क्रमविन्यास

प्रश्न— ज्ञानावरणादि कर्मों को इस क्रम से कहने का क्या प्रयोजन है ? अथवा प्रयोजन के बिना ही इस प्रकार का क्रमविन्यास किया है ?

उत्तर—जिस क्रम से ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का विन्यास किया है, वह सप्रयोजन है। जो इस प्रकार समझना चाहिये—

ज्ञान और दर्शन जीव का स्वभाव है। क्योंकि ज्ञान और दर्शन के अभाव में जीवत्व हो ही नहीं सकता है। यदि जीवों में ज्ञान और दर्शन का ही अभाव हो तो उन्हें जीव नहीं कहा जा सकता है। इसलिए जीव में उसकी स्वरूपचेतना—ज्ञान और दर्शन होना ही चाहिये। इस ज्ञान और दर्शन में भी ज्ञान प्रधान अथवा मुख्य है। क्योंकि ज्ञान के द्वारा ही सभी शास्त्रों का विचार हो सकता है तथा जब कोई लब्धि प्राप्त होती है तो वह ज्ञानोपयोग में वर्तमान जीव को ही प्राप्त होती है, दर्शनोपयोग में वर्तमान जीव को प्राप्त नहीं होती है[1] तथा जिस समय आत्मा सम्पूर्ण कर्ममल से रहित होती है, उस समय ज्ञानोपयोग में ही वर्तमान होती है,[2] दर्शनोपयोग में नहीं होती है। इस कारण ज्ञान प्रधान है और उसको आवृत करने वाला कर्म ज्ञानावरण होने से पहले उसका कथन किया है। तत्पश्चात् दर्शन को आवृत करने वाले दर्शनावरणकर्म का विन्यास किया है। क्योंकि ज्ञानोपयोग से च्युत आत्मा की दर्शनोपयोग में स्थिरता होती है।

ये ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म अपना विपाक बतलाते हुए यथायोग्य रीति से अवश्य सुख और दुःख रूप वेदनीयकर्म के उदय

---

१ सव्वा उ लद्धीओ सागरोवओगोवउत्तस्स, न अणागारोवओगोवउत्तस्स।

२ तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान और सिद्धावस्था के प्रथम समय में आत्मा ज्ञान के उपयोग में ही वर्तमान होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में हेतु होते हैं। वह इस प्रकार कि अतिगाढ़ ज्ञानावरणकर्म के रसोदय द्वारा सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म पदार्थों का विचार करने में स्वयं को असमर्थ जानकर अनेक जीव अत्यन्त खेदखिन्न होते हैं, अत्यन्त दुःख का अनुभव करते हैं और ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुई पटुतायुक्त आत्मा सूक्ष्म, सूक्ष्मतर पदार्थों को अपनी बुद्धि के द्वारा जानते समय और दूसरे अनेक व्यक्तियों की अपेक्षा अपने को विशिष्ट देखकर अत्यन्त आनन्द—सुख का अनुभव करती है। इस प्रकार ज्ञानावरणकर्म का उदय और क्षयोपशम अनुक्रम से दुःख और सुख रूप वेदनीयकर्म के उदय में निमित्त होता है तथा गाढ़ दर्शनावरणकर्म के विपाकोदय द्वारा जन्मांध आदि होने से बहुत से व्यक्ति अति अद्भुत दुःख का अनुभव करते हैं और दर्शनावरणकर्म के क्षयोपशम द्वारा उत्पन्न हुई कुशलता—निपुणता द्वारा स्पष्ट चक्षु आदि इन्द्रियों से युक्त होकर यथार्थ रूप से वस्तु को देखकर आनन्द की अनुभूति करते हैं। इस तरह दर्शनावरणकर्म दुःख और सुखरूप वेदनीयकर्म के उदय में निमित्त होता है। इस आशय को बताने के लिए ज्ञानावरण, दर्शनावरण के पश्चात् वेदनीयकर्म का क्रमविन्यास किया है।

वेदनीयकर्म इष्ट और अनिष्ट वस्तु का संयोग होने पर सुख या दुःख उत्पन्न करता है और इष्ट-अनिष्ट वस्तु के संयोग से संसारी आत्मा को अवश्य राग और द्वेष उत्पन्न होता है। इष्ट वस्तु का संयोग होने से 'अच्छा हुआ कि अमुक वस्तु मुझे मिली' ऐसा भाव और अनिष्ट वस्तु का संयोग होने पर 'यह वस्तु मुझे कहाँ से मिली? कब इससे छुटकारा होगा?' ऐसा भाव पैदा होता है। यही राग और द्वेष है और यह राग एवं द्वेष मोहनीयकर्म रूप ही है। इस प्रकार वेदनीयकर्म मोहनीय के उदय में कारण है। यही अर्थ बतलाने के लिए वेदनीय के अनन्तर मोहनीयकर्म का प्रतिविधान किया है।

मोहरूढ़ आत्मायें बहु आरम्भ और परिग्रह वाले कार्यों में आसक्त होकर नरकादि के आयुष्य का बंध करती हैं। इस प्रकार मोहनीयकर्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आयुकर्म के बंध में कारण है, यह बताने के लिए मोहनीय के अनन्तर आयुकर्म का उपन्यास किया है।

नरकायु आदि किसी भी आयु का जब उदय होता है तब अवश्य ही नरकगति, पंचेन्द्रियजाति आदि रूप नामकर्म का उदय होता है। इसलिए आयु के पश्चात् नामकर्म का क्रम रखा है।

नामकर्म का जब उदय होता है तब उच्च या नीच गोत्र में से किसी एक का उदय अवश्य होता है, इस बात को बताने के लिए नामकर्म के बाद गोत्रकर्म का कथन किया है।

गोत्रकर्म का जब उदय होता है तब उच्च कुल में उत्पन्न हुए व्यक्तियों को प्रायः दानान्तराय, लाभान्तराय आदि कर्म का क्षयोपशम होता है। क्योंकि राजा आदि अधिक दान देते हैं तो अधिक लाभ भी प्राप्त करते हैं, ऐसा प्रत्यक्ष दिखलाई देता है और नीच कुल में उत्पन्न हुओं को प्रायः दानान्तराय, लाभान्तराय आदि कर्म का उदय होता है। अन्त्यज आदि हीन कुलोत्पन्न व्यक्तियों में दानादि दिखता नहीं है। इस तरह उच्च-नीच गोत्र का उदय अन्तरायकर्म के उदय में हेतु है, इस अर्थ का बोध कराने के लिए गोत्र के पश्चात् अन्तरायकर्म का विधान किया है।[1]

---

१ दिगम्बर कर्मसाहित्य में भी अष्ट कर्मों के कथन की उपपत्ति प्रायः पूर्वोक्त जैसी है। परन्तु जानने योग्य बात यह है कि अन्तरायकर्म घाति होने पर भी सबसे अंत में कहने का आशय है कि वह कर्म घाति होने पर भी अघातिकर्म की तरह जीव के गुण का सर्वथा घात नहीं करता है तथा उसके उदय में अघातिकर्म निमित्त होते हैं और वीर्यगुण शक्ति रूप है और वह शक्ति रूप गुण जीव और अजीव दोनों में पाया जाता है, इसलिए उसके घात करने वाले अंतरायकर्म का सब कर्मों के अंत में निर्देश किया है। तत्सम्बन्धी पाठ इस प्रकार है—

——→

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार मूल कर्मप्रकृतियों का कथन करने के पश्चात् अब कर्म की उत्तरप्रकृतियों की संख्या बतलाते हैं।

कर्मों की उत्तरप्रकृतियां

पंच नव दोन्नि अट्ठावीसा चउरो तहेव बायाला।
दोन्नि य पंच य भणिया पयडीओ उत्तरा चेव ॥२॥[1]

शब्दार्थ—**पच**—पांच, **नव**—नौ, **दोन्नि**—दो, **अट्ठावीसा**—अट्ठाईस, **चउरो**—चार, **तहेव**—इसी प्रकार, **बायाला**—बयालीस, **दोन्नि**—दो, **य**—और, **पंच**—पांच, **य**—और, **भणिया**—कही गई हैं, **पयडीओ**—प्रकृतियां, **उत्तरा**—उत्तर, **च**—और, **एव**—ही।

घादीवि अघादिं वा णिस्सेसं घादणे असक्कादो।
णामतियणिमित्तादो विग्घं पठिदं अघादिचरिमम्हि ॥
..................विरियं जीवाजीवगदमिदि चरिमे।

—दि. कर्मप्रकृति गा. १८. १७

वेदनीयकर्म अघाति होने पर भी उसका पाठ घातिकर्म के बीच इसलिये किया गया है कि वह घातिकर्म की तरह मोहनीयकर्म के बल से जीव के गुण का घात करता है—

घादिं व वेयणीयं मोहस्स बलेण घाददे जीवं।
इदि घादीणं मज्झे मोहस्सादिम्हि पठिदं तु ॥

—दि. कर्मप्रकृति गा. २०

१ तुलना कीजिये—

पंच णव दोण्णि अट्ठावीसं चउरो तहेव तेणउदी।
दोण्णि य पंच य भणिया पयडीओ उत्तरा होंति ॥

दि. पंचसंग्रह २।४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथार्थ—पांच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार तथा बयालीस, दो और पांच इस प्रकार के अनुक्रम से आठ कर्मों की उत्तरप्रकृतियां कही गई हैं।

विशेषार्थ—पूर्व गाथा में मूल कर्मप्रकृतियों का जिस क्रम से विधान किया है, तदनुसार इस गाथा में प्रत्येक की उत्तरप्रकृतियों की संख्या का निर्देश किया है। प्रत्येक कर्म के **नाम** के साथ **क्रमशः** जिनकी योजना इस प्रकार करना चाहिए—

ज्ञानावरणकर्म की पांच उत्तरप्रकृतियां हैं। इसी तरह दर्शनावरण की नौ, वेदनीय की दो, मोहनीय की अट्ठाईस, आयु की चार, नाम की बयालीस, गोत्र की दो और अन्तराय की पांच उत्तर प्रकृतियां हैं।[1]

इस प्रकार से उत्तर प्रकृतियों की संख्या बतलाने के पश्चात् उद्देश क्रम के अनुरूप कथन करने का नियम होने से अब प्रत्येक कर्म की उत्तर प्रकृतियों के नाम और उनके लक्षण बतलाते हैं। सर्वप्रथम समान स्थितिमर्यादा एवं संख्या वाली होने से ज्ञानावरण और अन्तरायकर्म की प्रकृतियों का व्याख्यान करते हैं।

ज्ञानावरण तथा अन्तराय कर्म की प्रकृतियां

मइसुयओहीमणकेवलाण आवरणं भवे पढमं।
तह दाणलाभभोगोवभोगविरियंतरायय चरिमं ॥३॥

शब्दार्थ—**मइसुयओहीमणकेवलाण**—मति, श्रुत, अवधि, मनपर्याय और केवल ज्ञान का, **आवरणं**—आवरण, **भवे**—है, **पढमं**—पहला, **तह**—तथा, **दाणलाभभोगोवभोगविरिय**—दान, लाभ, भोग, उपभोग वीर्य, **अंतराययं**—अन्तराय, **चरिमं**—अन्तिम।

१ आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुष्कनामगोत्रान्तरायाः। पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदायथाक्रमम्।

—तत्त्वार्थसूत्र ८।५,६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथार्थ—मति, श्रुत, अवधि, मनपर्याय और केवल ज्ञान का जो आवरण है, वह पहला (ज्ञानावरण) कर्म है तथा दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य का अवरोधक अन्तिम अन्तरायकर्म जानना चाहिए।

विशेषार्थ—समान स्थिति और प्रकृतियों की समान संख्या होने से गाथा में ज्ञानावरण और अन्तराय कर्म की पांच-पांच प्रकृतियों के नाम बतलाये हैं। उनमें से ज्ञानावरण की पांच प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

१ मतिज्ञानावरण, २ श्रुतज्ञानावरण, ३ अवधिज्ञानावरण, ४ मनपर्यायज्ञानावरण और ५ केवलज्ञानावरण।[1]

मति, श्रुत आदि पांच ज्ञानों का स्वरूप पहले योगोपयोगमार्गणा अधिकार में और आवरण का स्वरूप पहले कहा है। अतएव मतिज्ञान और उसके अन्तर्भेदों को आच्छादित करने वाले कर्म को मतिज्ञानावरण तथा श्रुतज्ञान और उसके अवान्तर भेदों को आवृत करने वाले कर्म को श्रुतज्ञानावरणकर्म कहते हैं। इसी प्रकार अवधिज्ञानावरण, मनपर्यायज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण कर्मों का स्वरूप समझ लेना चाहिए। ज्ञानावरणकर्म आत्मा के ज्ञान गुण को आवृत करता है।

इस प्रकार से ज्ञानावरणकर्म की पांच उत्तर प्रकृतियों के लक्षण जानना चाहिए। अब तत्समसंख्यक और समान स्थिति वाले कर्म अन्तराय की पांच प्रकृतियों का स्वरूप बतलाते हैं।

---

१ (क) मदि-सुद-ओही-मणपज्जव-केवलणाण आवरणमेवं। पंचवियप्पं णाणावरणीयं जाण जिणभणियं।

—दि. कर्मप्रकृति ४२

(ख) मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानां। अथवा—मत्यादीनाम्।

तत्त्वार्थसूत्र ८।६,७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्तरायकर्म की उत्तरप्रकृतियां

आत्मा के दानादि गुणों को दबाने वाला दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय के भेद से अन्तिम अर्थात् आठवां कर्म पांच प्रकार का है। उनके लक्षण इस प्रकार हैं—

दानान्तराय—अपने अधिकार की वस्तु को अन्य को देना दान कहलाता है। जिस कर्म के उदय से उस प्रकार के दान की इच्छा न हो, अपने पास वैभव होने पर भी और गुणवान पात्र के मिलने पर भी तथा इस महात्मा को देने से महान फल की प्राप्ति होगी, ऐसा समझते हुए भी देने का उत्साह न हो उसे दानान्तरायकर्म कहते हैं।

लाभान्तराय—लाभ अर्थात वस्तु की प्राप्ति। जिस कर्म के उदय से वस्तु को प्राप्त न कर सके, दान गुण से प्रसिद्ध दाता के घर में देने योग्य वस्तु के होने पर भी और उस वस्तु को भिक्षा में मांगने में कुशल, गुणवान याचक होने पर भी प्राप्त न कर सके वह लाभान्तराय कहलाता है।

भोगान्तराय— जिस कर्म के उदय से विशिष्ट आहारादि वस्तु मिलने पर भी और प्रत्याख्यान— त्याग का परिणाम अथवा वैराग्य न होने पर भी जीव मात्र कृपणता से उस वस्तु का भोग करने में समर्थ न हो, वह भोगान्तरायकर्म है।

उपभोगान्तराय—पूर्वोक्त प्रकार से उपभोगान्तरायकर्म का भी लक्षण समझ लेना चाहिए। भोग और उपभोग में लाभान्तरायकर्म के क्षयोपशम से प्राप्त सामग्री का उपभोग किया जाता है। परन्तु दोनों में यह विशेषता है कि जिसका एक बार भोग किया जाये, उसे भोग और बारबार भोग किया जा सके, उसे उपभोग कहते हैं। एक बार भोगने योग्य वस्तु जिसके उदय से न भोगी जा सके वह भोगान्तराय और बार-बार भोगने योग्य वस्तु जिसके उदय से न भोगी जा सके वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपभोगान्तराय कहलाता है। खाद्य भोजन, पुष्प आदि भोग और वस्त्र, पात्र आदि उपभोग की कोटि में आते हैं।

वीर्यान्तराय—वीर्य यानि आत्मा की अनन्त शक्ति, उसको आवृत वाला कर्म वीर्यान्तराय कहलाता है। शरीर रोग रहित हो, युवावस्था हो किन्तु जिस कर्म के उदय से अल्प बल वाला हो अथवा शरीर बलवान हो किन्तु कोई सिद्ध करने लायक कार्य के उपस्थित होने पर हीनसत्वता के कारण उस कार्य को सिद्ध करने में प्रवृत्ति न कर सके, उसे वीर्यान्तरायकर्म कहते हैं।

इस प्रकार से अन्तरायकर्म की पांच प्रकृतियां जानना चाहिये। अब समान स्थिति वाले और घातिकर्म होने से ज्ञानावरण के निकटवर्ती दूसरे दर्शनावरणकर्म की उत्तरप्रकृतियों को बतलाते हैं।

दर्शनावरणकर्म की उत्तरप्रकृतियां

नयणेयरोहिकेवल दंसण आवरणयं भवे चउहा।
निद्दापयलाहिं छहा निद्दाइदुरुत्त थीणद्धी ॥४॥

शब्दार्थ—**नयणेयरोहिकेवल**—नयन (चक्षु), इतर (अचक्षु), अवधि और केवल, **दंसण**—दर्शन, **आवरणयं**—आवरण, **भवे**—है, **चउहा**—चार प्रकार का, **निद्दापयलाहिं**—निद्रा और प्रचला के साथ, **छहा**—छह प्रकार का, **निद्दाइदुरुत्त**—दो बार बोली गई निद्रा और प्रचला, **थीणद्धी**—स्त्यानर्द्धि।

गाथार्थ—चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल दर्शन के भेद से दर्शनावरणकर्म चार प्रकार का है, निद्रा और प्रचला के साथ छह भेद वाला है और दो बार बोली गई निद्रा और प्रचला तथा स्त्यानर्द्धि के साथ नौ प्रकार का है।

विशेषार्थ—गाथा में दर्शनावरणकर्म के भेद तीन खण्ड करके बतलाये हैं। इन तीन खण्डों को करने का कारण यह है कि बंध, उदय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और सत्ता में किसी समय चार प्रकार, किसी समय छह प्रकार और किसी समय नौ प्रकार यह तीन रूप सम्भव हैं। ये चार, छह और नौ प्रकार कैसे सम्भव हैं, इसको स्पष्ट करते हुए प्रथम चार प्रकारों को बतलाते हैं—

चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल दर्शन सम्बन्धी विषय को आवृत करने वाला दर्शनावरणकर्म चार भेद वाला है—'नयणेयरोहिकेवल दंसण-आवरणयं भवे चउहा'। तात्पर्य यह है कि जब बंध, उदय और सत्ता में दर्शनावरणकर्म के चार भेद की विवक्षा की जाती है तब वे चार भेद इस प्रकार समझना चाहिए—चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण[1] अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण।

चक्षु के द्वारा चक्ष विषय का जो सामान्य ज्ञान, उसे चक्षुदर्शन कहते हैं। उसको आवृत करने वाला कर्म चक्षुदर्शनावरण है। चक्षु के सिवाय शेष स्पर्शनादि चार इन्द्रियों और मन के द्वारा उस, उस इन्द्रिय के विषय का जो सामान्य ज्ञान वह अचक्षुदर्शन है और उसको आच्छादित करने वाला जो कर्म वह अचक्षुदर्शनावरण है।[2] अचक्षु-

---

१,२ चक्षुदर्शनावरण और अचक्षुदर्शनावरण इन दो अलग-अलग भेद का कारण यह है कि यदि सामान्य इन्द्रियावरण कहा जाता तो सभी आवरणों का समावेश होता है परन्तु लोक में यह वस्तु मैंने देखी है, यह देख रहा हूँ, ऐसा व्यवहार चक्षु के सम्बंध में ही होता है, अन्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में नहीं होता तथा विग्रहगति में जब अन्य कोई दर्शन नहीं होता तब अचक्षुदर्शन तो होता ही है, यह बताने के लिये चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन कहे हैं और इसीलिये दोनों दर्शनावरणों का पृथक् निर्देश किया है।

चक्खूणं जं पयासइ दीसइ तं चक्खुदंसणं विंति।
सेसिंदियप्पयासो णायव्वो सो अचक्खु त्ति॥

दि. कर्मप्रकृति गा. ४४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दर्शनावरण में स्पर्शनादि चार इन्द्रियावरणों और मन— नोइन्द्रियावरण इस प्रकार पांच आवरणों का समावेश होता है। इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्मा द्वारा मर्यादा में रहे हुए रूपी पदार्थों का जो सामान्य ज्ञान, उसे अवधिदर्शन कहते हैं और उसका आवरण करने वाला कर्म अवधिदर्शनावरण कहलाता है। रूपी, अरूपी प्रत्येक पदार्थ का जो सामान्य ज्ञान वह केवलदर्शन है और उसको आवृत करने वाला कर्म केवलदर्शनावरण कहलाता है।

इन्हीं चारों दर्शनावरणों के साथ निद्रा और प्रचला को मिलाने पर दर्शनावरणकर्म के छह भेद होते हैं।

'नि' उपसर्ग पूर्वक कुत्सार्थक 'द्रा' धातु से निद्रा शब्द निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ यह हुआ कि जिस अवस्था में चैतन्य अवश्य अस्पष्ट होता है, उसे निद्रा कहते हैं।[1] जिसके अन्दर चुटकी आदि बजाने अथवा धीरे से भी ध्वनि करने पर सुखपूर्वक जागना हो जाये, उसे निद्रा कहते हैं। इस प्रकार की नींद आने में करणभूत जो कर्म वह कारण में कार्य का आरोप करने से निद्रा कहलाता है। निद्रादर्शनावरणकर्म नींद आने में कारण है और नींद आना यह कार्य है।

जिस निद्रा में बैठे-बैठे या खड़े-खड़े नींद आये उसे प्रचला कहते हैं।[2]

---

१ दिगम्बर कर्मसाहित्य में निद्रा का लक्षण यह बताया है—जिसके उदय से जीव गमन करते हुए भी खड़ा रह जाये, बैठ जाये, गिर जाये उसे निद्रा कहते हैं—

णिद्दुदए गच्छंतो ठाइ पुणो वइसदि पडेदि।

—दि. कर्मप्रकृति गा. ५०

२ दिगम्बर कर्मसाहित्य में प्रचला का लक्षण यह बताया है—जिसके उदय से जीव कुछ जागता और कुछ सोता रहे—

पयलुदएण य जीवो ईसुम्मीलिय सुवेदि सुत्तोवि।
ईसं ईसं जाणदि मुहं मुहं सोवदे मंदं॥

—दि. कर्मप्रकृति गा. ५१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार के विपाक का अनुभव कराने वाली कर्मप्रकृति भी प्रचला कहलाती है।

स्त्यानर्द्धित्रिक की अपेक्षा यह दो निद्रायें मन्द हैं। दर्शनावरणषट्क का जहाँ उल्लेख किया जाता है, वहाँ ये छह प्रकृतियां ग्रहण की जाती हैं।

इस दर्शनावरणषट्क में दो बार कही गई निद्रा और प्रचला को स्त्यानर्द्धि के साथ गिनने पर दर्शनावरण के नौ भेद होते हैं। निद्रा से भी अतिशायिनी (अधिक तीव्र) गहरी निद्रा को निद्रा-निद्रा कहते हैं। इसके अन्दर चैतन्य अत्यन्त अस्फुट होने से अधिक आवाजें लगानी पड़ती हैं, शरीर को हिलाना-डुलाना पड़ता है तब सोया हुआ व्यक्ति प्रबुद्ध होता है। इस कारण सुखपूर्वक प्रबोध होने में हेतुभूत निद्रा कर्म-प्रकृति की अपेक्षा इस निद्रा में अतिशायित्व है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिसके उदय से ऐसी गहरी नींद आये कि बहुत सी आवाजें लगाने पर तथा हिलाने आदि के द्वारा जागना होता है, उसे निद्रा-निद्रा कहते हैं। इस प्रकार की निद्रा में हेतुभूत कर्मप्रकृति भी निद्रा-निद्रा कहलाती है।

प्रचला से अतिशयिनी जो निद्रा उसे प्रचला-प्रचला कहते हैं। ऐसी निद्रा चलते-चलते भी आने लगती है। यानी जिस कर्म के उदय से चलते-चलते जो नींद आती है, वह प्रचला-प्रचला कहलाती है।[1]

---

१ दिगम्बर कर्मसाहित्य में प्रचला-प्रचला का यह लक्षण किया गया है—जिसके उदय से सोते में जीव के हाथ पैर भी चलें और मुँह से लार भी गिरे—

पयलापयलुदएण य वहेदि लाला चलंति अंगाइं।

—दि. कर्मप्रकृति गा. ५०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिससे एक स्थान पर बैठे या खड़े हुए को प्राप्त होने वाली प्रचला की अपेक्षा इस निद्रा का अतिशायित्व है।

पिंडित हुई जो आत्मशक्ति अथवा वासना जिस सुप्त स्थिति में प्रगट हो उसे स्त्यानर्द्धि अथवा स्त्यानगृद्धि कहते हैं। क्योंकि जब यह निद्रा आती है तब प्रथम संहनन वाले वासुदेव के बल से आधा बल इस निद्रा में उत्पन्न हो जाता है। जैसे कि किसी मनुष्य को रोग के जोर से बल उत्पन्न होता है, उसी प्रकार इस निद्रावाला अतृप्त वासना को रात्रि में सोते-सोते पूर्ण कर देता है। शास्त्रों में इस सम्बन्धी अनेक उदाहरणों का उल्लेख है।[1] स्त्यानर्द्धि के विपाक का अनुभव कराने वाली कर्मप्रकृति भी कारण में कार्य का आरोप करने से स्त्यानर्द्धि कहलाती है।

चक्षुदर्शनावरण आदि चार कर्मप्रकृतियां तो मूल से ही दर्शनलब्धि का घात करती हैं। यानी उनके उदय से चक्षु-दर्शन आदि प्राप्त नहीं होते हैं अथवा उनके क्षयोपशम के अनुसार ही प्राप्त होते हैं और निद्रायें दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त दर्शनलब्धि को दबाती हैं।[2]

निद्राओं को भी दर्शनावरण में ग्रहण करने का कारण **यह है कि निद्रायें** छद्मस्थ को ही होती हैं और छद्मस्थ को पहले दर्शन और पश्चात् ज्ञान होता है। इसलिए निद्रा के उदय से जब दर्शनलब्धि दबती है, तब ज्ञान तो दबेगा ही। इसलिये उनको ज्ञानावरण में न गिनकर दर्शनावरण में ग्रहण किया गया है।

---

१ विशेषावश्यकभाष्य में एतद् विषयक कई उदाहरण दिये हैं।

२ इदं च निद्रापंचकं प्राप्तायाः दर्शनलब्धेरुपघातकृत्, दर्शनावरणचतुष्टयं तु मूलत एव दर्शनलब्धेरिति।

—पंचसंग्रह मलय. टीका, पृ. ११०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार के ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म की उत्तर-प्रकृतियों का वर्णन करने के पश्चात् उनके समान मोहनीय के भी घाति होने से अब मोहनीयकर्म की उत्तरप्रकृतियों को बतलाते हैं।

मोहनीय की उत्तरप्रकृतियां

सोलस कसाय नव नोकसाय दंसणतिगं च मोहणीयं ।

शब्दार्थ—**सोलस**—सोलह, **कसाय**—कषाय, **नव**—नौ, **नोकसाय**—नोकषाय, **दंसणतिगं**—दर्शनत्रिक, **च**—और, **मोहणीयं**—मोहनीय।

गाथार्थ—सोलह कषाय, नौ नोकषाय और दर्शनत्रिक ये मोहनीय की अट्ठाईस प्रकृतियां हैं।

विशेषार्थ—गाथा के पूर्वार्ध में मोहनीयकर्म की उत्तरप्रकृतियों के अट्ठाईस भेदों के नाम बतलाये हैं। जिनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

मोहनीयकर्म के दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। इनमें से चारित्रमोहनीय की अधिक प्रकृतियां होने और उनके सम्बन्ध में कथनीय भी बहुत होने से पहले चारित्रमोहनीय के भेदों को बतलाते हैं कि सोलह कषाय और नव नोकषाय, इस प्रकार चारित्रमोहनीय के दो भेद हैं।

जो आत्मा के गुणों को कषे—नष्ट करे अथवा कष् का अर्थ है संसार और आय का अर्थ है प्राप्ति, अतः जो अनन्त संसार की प्राप्ति कराने में कारण हो, उसे कषाय कहते हैं। अथवा जिसके कारण आत्मायें संसार में परिभ्रमण करें उसे कषाय कहते हैं। कषाय के मूल चार भेद हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। इन चारों के भी तीव्र-मन्दादि के भेद से अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और

Jain Education International - For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संज्वलन ये चार-चार भेद होते हैं।[1] जिससे कषाय के सोलह भेद हो जाते हैं। अनन्तानुबंधी आदि के लक्षण इस प्रकार हैं—

अनन्त संसार की परम्परा की वृद्धि करने वाली कषायों को अनन्तानुबंधीकषाय कहते हैं। तीव्र राग और द्वेष, क्रोधादि से आत्मा अनन्त संसार में परिभ्रमण करती है, अनन्त जन्म-मरण की परम्परा में वृद्धि करती है, इसीलिए ऐसी कषाय का अनन्तानुबंधी यह सार्थक नाम है।[2] अनन्तानुबंधीकषाय का अपर नाम संयोजना भी है। जिसका अर्थ है कि जिसके द्वारा आत्मायें अनन्त भवों—जन्मों के साथ जुड़ती हैं—संयोजित होती हैं, यानि जिसके कारण जीव अनन्त संसार में भटकते हैं, उसे संयोजना कहते हैं। इस कषाय का उदय रहने तक सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होता है और पूर्व प्राप्त सम्यक्त्व भी नष्ट हो जाता है।[3]

जिस कषाय के उदय से स्वल्प भी प्रत्याख्यान (त्याग) दशा प्राप्त न हो, स्वल्प भी प्रत्याख्यान करने का उत्साह न हो, उसे अप्रत्याख्यानावरणकषाय कहते हैं। यद्यपि अप्रत्याख्यानावरणकषाय के उदय से अल्प भी विरति के परिणाम नहीं होते हैं, तथापि सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। इन सम्यक्त्वी आत्माओं को पाप-व्यापार से छूटने की इच्छा अवश्य होती है किन्तु छोड़ नहीं सकती हैं, त्याग नहीं कर

---

१ अनन्तानुबंधी आदि उक्त चार भेदों में से अनन्तानुबंधी अत्यंत तीव्र और अप्रत्याख्यानावरण आदि भेदत्रय उत्तरोत्तर क्रमशः मंद, मंदतर और मंदतम हैं।

२ अनन्तान्यनुबध्नन्ति यतो जन्मानि भूतये।
ततोऽनन्तानुबन्ध्याख्याः क्रोधाद्येषु नियोजिताः॥

३ अनन्तानुबंधी—सम्यग्दर्शनोपघाती। तस्योदयाद्धि सम्यग्दर्शनं नोत्पद्यते, पूर्वोत्पन्नमपि च प्रतिपतति।

—तत्वार्थसूत्र भाष्य ८।१०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकती हैं, फिर भी पश्चात्तापपूर्ण हृदय से उन पापव्यवहारों में प्रवृत्ति करती हैं।

सर्वथा प्रकार से पाप-व्यापार का त्यागरूप सर्वविरति चारित्र जिसके द्वारा आवृत हो यानी जिसके उदय से सम्पूर्ण पाप-व्यापार का त्याग न किया जा सके, उसे प्रत्याख्यानावरणकषाय कहते हैं। इस कषाय का उदय रहते आत्मा सर्वथा प्रकार से पापव्यापार का त्याग नहीं कर पाती है किन्तु देश—आंशिक त्याग कर सकती है, श्रावकाचार का पालन होता है किन्तु साधु अवस्था प्राप्त नहीं होती है।

परीषह, उपसर्ग आदि के प्राप्त होने पर सर्वथा प्रकार से पाप-व्यापार के त्यागी श्रमण—साधु को भी जो कषायें कुछ जाज्वल्यमान करती हैं, कषाययुक्त करती हैं। अल्प प्रमाण में उनके प्रशमभाव में व्यवधान डालने वाली होने से उन्हें संज्वलनकषाय कहते हैं। संज्वलन-कषाय के उदय वाला जीव सम्पूर्ण पाप-व्यापारों को छोड़कर सर्व-विरति चारित्र प्राप्त करता है, किन्तु आत्मा के पूर्ण स्वभावरूप यथाख्यातचारित्र को प्राप्त नहीं कर सकता है।

आत्मा को बहिरात्मभाव में रोककर अन्तरात्मदशा में स्थिर न होने देना कषायों का कार्य है। परन्तु जैसे-जैसे कषायों का बल शक्तिहीन होता जाता है, तदनुरूप आत्मा बहिरात्मभाव से, पौद्गलिक भावों से छूटकर अन्तरात्मदशा में स्थिर होती जाती है।

शास्त्रों में दृष्टान्त द्वारा इन चारों प्रकार की कषायों का स्वभाव इस प्रकार बतलाया है—

संज्वलन क्रोध जल में खींची गई रेखा के सदृश, प्रत्याख्यानावरण क्रोध धूलिरेखा सदृश, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध पृथ्वीरेखा सदृश और अनन्तानुबंधी क्रोध पर्वत में आई दरार के सदृश है।

इसी प्रकार संज्वलन आदि के क्रम से मान, माया, लोभ के लिए भी प्रतीकों की योजना कर लेना चाहिये। जो इस प्रकार है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संज्वलन मान बेंत के समान नमने वाला, प्रत्याख्यानावरण मान सूखे काष्ठ के समान प्रयत्न से नमने वाला, अप्रत्याख्यानावरण मान हड्डी की तरह सुदीर्घ प्रयत्न से नमने वाला, अनन्तानुबंधी मान पत्थर के खम्भे के समान न नमने वाला है।

संज्वलन माया बांस के छिलके के समान ऋजुता वाली, प्रत्याख्यानावरण माया चलते बैल की मूत्ररेखा के समान, अप्रत्याख्यानावरण माया भेड़ के सींगों में प्राप्त वक्रता के समान और अनन्तानुबंधी माया बांस की जड़ में रहने वाली वक्रता के समान है।

संज्वलन लोभ हल्दी के रंग के समान, प्रत्याख्यानावरण लोभ काजल के रंग के समान, अप्रत्याख्यानावरण लोभ गाड़ी के पहिये के कीचड़ के समान एवं अनन्तानुबंधी लोभ किरमिची के रंग के समान है।

इस प्रकार से कषायमोहनीय के भेदों का वर्णन करने के पश्चात् अब नौ नोकषायों के नाम और उनके लक्षण बतलाते हैं—

नोकषाय शब्द में 'नो' शब्द साहचर्यवाचक अथवा देशनिषेधवाचक है। यानी जो कषायों की सहचारी हों, साथ रहकर कषायों को उत्तेजित करती हैं, उद्दीपन करती हैं, अथवा जो कषायों का सम्पूर्ण कार्य करने में असमर्थ हों, उन्हें नोकषाय कहते हैं।

प्रश्न—किन कषायों के साथ इनका साहचर्य है ?

उत्तर—ये नौ नोकषाय आदि की अनन्तानुबंधीचतुष्क, अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, प्रत्याख्यानावरणचतुष्क रूप बारह कषायों की सहचारी हैं। इनके साथ साहचर्य का कारण यह है कि आदि की उक्त बारह कषायों का क्षय होने के पश्चात् नोकषायें भी क्षय हो जाती हैं। बारह कषायों का क्षय करने के पश्चात् क्षपक आत्मा इन नोकषायों का क्षय करने के लिए प्रवृत्त होती है। अथवा उदयप्राप्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नोकषायें अवश्य ही कषायों को उद्दीप्त करती हैं। जैसे कि रति और अरति क्रमशः लोभ और क्रोध का उद्दीपन करती हैं। एतद् विषयक श्लोक इस प्रकार है—

कषाय - सहवर्त्तित्वात्कषाय - प्रेरणादपि।
हास्यादि नवकस्योक्ता नोकषाय कषायता॥

अर्थात् कषायों की सहवर्ती होने से और कषायों की प्रेरक होने से हास्यादि नवक को नोकषाय कषाय कहा जाता है। नोकषायों के नौ भेद इस प्रकार हैं—

वेदत्रिक—स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद और हास्यादिषट्क—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा।[1] वेदत्रिक के लक्षण इस प्रकार हैं—

१—जिसके उदय से स्त्री को पुरुषोपभोग की इच्छा होती है, यथा पित्त की अधिकता से मधुर पदार्थों को खाने की इच्छा होती है, उसे स्त्रीवेद कहते हैं।

२—जिसके उदय से पुरुष को स्त्री के उपभोग की इच्छा होती है, जैसे कि कफ की अधिकता होने पर खट्टे पदार्थों को खाने की इच्छा होती है, उसे पुरुषवेद कहते हैं।

३—जिसके उदय से स्त्री और पुरुष दोनों के उपभोग की इच्छा होती है, जैसे कि पित्त और कफ का आधिक्य होने पर मज्जिका—खटमिट्ठी वस्तु के खाने की इच्छा होती है, उसे नपुंसकवेद कहते हैं।[2]

---

१ वेदमोहनीय के उदय से आत्मा को ऐन्द्रियिक विषयों को भोगने की लालसा उत्पन्न होती है। वह इच्छा मंद, मध्यम और तीव्र इस तरह तीन प्रकार की है। मंद लालसा पुरुषवेद वाले को और मध्यम एवं तीव्र अनुक्रम से स्त्रीवेद और नपुंसकवेद के उदय वाले के होती है।

२ उत्तराध्ययन सूत्र ३३।११ में नोकषाय के सात अथवा नौ भेदों का उल्लेख है। यह विकल्प वेद का सामान्य से एक और पुरुषवेद आदि तीन भेद करके बतलाये हैं। लेकिन साधारणतया नोकषायमोहनीय के नौ भेद प्रसिद्ध होने से यहाँ नौ नाम गिनाये हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हास्यादिषट्क के लक्षण इस प्रकार हैं—

१—जिस कर्म के उदय से कारण मिलने पर अथवा बिना कारण के हँसी आती है, उसे हास्यमोहनीयकर्म कहते हैं।

२—जिस कर्म के उदय से बाह्य अथवा आभ्यन्तर वस्तु के विषय में हर्ष-राग-प्रेम हो उसे रतिमोहनीयकर्म कहते हैं। अर्थात् इष्ट संयोग मिलने पर 'यह अच्छा हुआ कि इस इष्ट वस्तु की प्राप्ति हुई', ऐसी जो आनन्द की अनुभूति है, वह रतिमोहनीयकर्म है।

३—जिस कर्म के उदय से बाह्य अथवा आभ्यन्तर वस्तु के विषय में अप्रीतिभाव पैदा हो, अनिष्ट संयोग मिलने पर 'ऐसी वस्तु का संयोग कहाँ से हुआ, उसका वियोग हो तो ठीक', इस प्रकार का खेद-भाव पैदा हो, उसे अरतिमोहनीयकर्म कहते हैं।

४—जिस कर्म के उदय से प्रिय वस्तु के वियोग आदि के कारण छाती कूटना, आक्रन्दन करना, जमीन पर लोटना, लम्बी-लम्बी सांसें लेना आदि रूप मनोवृत्ति होती है, उसे शोकमोहनीयकर्म कहते हैं।

५—जिस कर्म के उदय से सनिमित्त अथवा अनिमित्त संकल्पमात्र से भयभीत होना भयमोहनीयकर्म कहलाता है।

६—जिस कर्म के उदय से शुभ या अशुभ वस्तु के सम्बन्ध में जुगुप्सा—ग्लानिभाव हो, घृणा हो उसे जुगुप्सामोहनीयकर्म[1] कहते हैं।[2]

---

१ दिगम्बर कर्मसाहित्य में जुगुप्सामोहनीय का लक्षण इस प्रकार बताया है—
जिसके उदय से जीव अपने दोष छिपाये और पर के दोष प्रगट करे—यदुदयादात्मीय दोषस्य संवरणं परदोषस्य धारणं सा जुगुप्सा।

—दि. कर्मप्रकृति पृ. ३३

२ इन हास्यादिषट्क के लक्षणों में सर्वत्र सनिमित्त—कारण मिलने और अनिमित्त—बिना कारण की विवक्षा कर लेनी चाहिए। सनिमित्त में

—→

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार से सोलह कषाय और नौ नोकषाय के भेद से चारित्र-मोहनीय के पच्चीस भेदों के लक्षण बतलाने के बाद अब दर्शनमोहनीय के तीन भेदों को बतलाते हैं—'दंसण तिगं च मोहणीयं'।

जो पदार्थ जैसा है, उसे उस रूप में समझना दर्शन है, अर्थात् तत्त्वार्थश्रद्धा को दर्शन कहते हैं। आत्मा के इस गुण को आवृत करने वाले—घातने वाले कर्म को दर्शनमोहनीयकर्म कहते हैं। इसके तीन भेद हैं—(१) मिथ्यात्वमोहनीय, (२) मिश्रमोहनीय और (३) सम्यक्त्वमोहनीय। इनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

१—जिस कर्म के उदय से वीतरागप्ररूपित तत्त्वों पर अश्रद्धा हो, श्रद्धा न हो, आत्मा के यथार्थ स्वरूप का भान न हो, उसे मिथ्यात्व-मोहनीय कहते हैं।

२—जिस कर्म के उदय से जिनेश्वरों द्वारा प्ररूपित तत्त्व की न तो यथार्थ श्रद्धा हो और न अश्रद्धा भी हो, रुचि-अरुचि में से एक भी न हो, उसे मिश्रमोहनीय कहते हैं।

३—जिस कर्म के उदय से जिनप्रणीत तत्त्व की सम्यक् श्रद्धा हो, यथार्थ रुचि उत्पन्न हो, वह सम्यक्त्वमोहनीयकर्म है।[1]

बाह्य निमित्त, कारण, पदार्थ का और अनिमित्त में स्मरण रूप आभ्यंतर कारण—भाव ग्रहण करना चाहिये। जैसे कि कोई हंसाये अथवा ऐसा कुछ दिखे कि हंसी आ जाये यह बाह्यनिमित्त और पूर्वानुभूत हास्य के कारण की स्मृति आने पर हंसना यह आभ्यंतर निमित्त कहलाता है।

१ दिगम्बर कर्मसाहित्य में मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय के लक्षण इस प्रकार बताते हैं—

जिस कर्म के उदय से जीव की तत्त्व के साथ अतत्त्व की, सन्मार्ग के साथ उन्मार्ग की और हित के साथ अहित की मिश्रित श्रद्धा होती है, उसे सम्यग्मिथ्यात्व (मिश्र) मोहनीय कहते हैं।

जिस कर्म के उदय से सम्यग्दर्शन तो बना रहे, किन्तु उसमें चल-मलिन आदि दोष उत्पन्न हों, उसे सम्यक्त्वमोहनीय कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दर्शनमोहनीय के उपशम या क्षय के पश्चात् ही चारित्रमोहनीय के उपशम या क्षय होने पर भी पहले यहाँ चारित्रमोहनीय की प्रकृतियों के क्रमविन्यास का कारण यह है कि चारित्रमोह की प्रकृतियां तो प्रतिपद्यमानचारित्र, प्रतिपतितचारित्र अथवा अप्राप्तचारित्र वालों में से प्रत्येक को यथायोग्य प्रमाण में पाई जाती हैं, किन्तु दर्शनमोहत्रिक में से तो अप्राप्तसम्यक्त्व वालों और प्रतिपतितसम्यक्त्व वालों में से किन्हीं-किन्हीं को एक मिथ्यात्व प्रकृति ही प्राप्त होती है, न कि सदैव दर्शनत्रिक। इसी अर्थ को बताने के लिए पहले चारित्रमोह की प्रकृतियों का और उसके पश्चात् दर्शनमोह की प्रकृतियों का उपन्यास किया है।

इस प्रकार मोहनीयकर्म की सभी अट्ठाईस प्रकृतियों के लक्षण जानना चाहिए। अब क्रमप्राप्त आयुकर्म की तथा अल्पवक्तव्य होने से वेदनीय और गोत्र कर्म की उत्तरप्रकृतियों को बतलाते हैं—

आयु, वेदनीय और गोत्र कर्म की उत्तरप्रकृतियां

सुरनरतिरिनिरयाऊ सायासायं च नीउच्चं ॥५॥

शब्दार्थ—**सुरनरतिरिनिरयाऊ**—देव, मनुष्य, तिर्यंच, नरकायु, **सायासायं**—साता, असाता, **च**—और, **नीउच्चं**—नीच-उच्चगोत्र।

गाथार्थ—देवायु, मनुष्यायु, तिर्यंचायु और नरकायु यह आयुकर्म के चार भेद हैं। साता और असाता के भेद से वेदनीयकर्म के दो भेद तथा नीच और उच्च यह गोत्र के दो भेद हैं।

विशेषार्थ—गाथा के पूर्वार्ध में मोहनीयकर्म के भेदों को बताया था और उत्तरार्ध में आयु, वेदनीय और गोत्र कर्म की क्रमशः चार, दो, दो उत्तरप्रकृतियों के नाम बतलाये हैं। उनमें से आयुकर्म की चार उत्तरप्रकृतियों के नाम ये हैं—

देवायु, मनुष्यायु, तिर्यंचायु और नरकायु।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिस कर्म के उदय से आत्मा अमुक नियत काल तक देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरक पर्याय में बनी रहे, उसे देवायु, मनुष्यायु, तिर्यंचायु और नरकायु कर्म कहते हैं। आयुकर्म अमुक गति में अमुक काल पर्यन्त आत्मा की स्थिति बनाये रखने में एवं उस गति के अनुरूप कर्मों का उपभोग कराने में हेतु है।

आयुकर्म के देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरक आयुभेदों में से सांसारिक सुख की प्रधानता बताने के लिए पहले देवायु और उसके बाद उत्तरोत्तर सुख की अल्पता बताने के लिए मनुष्य, तिर्यंच और नरक आयुओं का उपन्यास किया है।

इस प्रकार से आयुकर्म के चार भेदों का लक्षण जानना चाहिए। अब वेदनीय और गोत्र कर्म की दो, दो प्रकृतियों के नाम बतलाते हैं।

वेदनीयकर्म के दो उत्तरभेद इस प्रकार हैं—सातावेदनीय, असातावेदनीय।

जिस कर्म के उदय से जीव आरोग्य और विषयोपभोगादि इष्ट साधनों के द्वारा उत्पन्न आह्लाद रूप सुख का अनुभव करता है, वह सातावेदनीय है और जिस कर्म के उदय से रोग आदि अनिष्ट साधनों द्वारा उत्पन्न हुए खेद रूप दुःख का अनुभव करे उसे असातावेदनीय कहते हैं।

गोत्रकर्म की दो प्रकृतियों के नाम हैं—उच्चगोत्र और नीचगोत्र। इनमें से जिस कर्म के उदय से उत्तम जाति, कुल, बल, ऐश्वर्य, श्रुत, सत्कार, अभ्युत्थान, अंजलिप्रग्रह आदि सम्भव हो, उसे उच्चगोत्र कहते हैं और जिस कर्म के उदय से ज्ञानादि युक्त होने पर भी निन्दा हो और हीन कुल, जाति आदि आदि सम्भव हो वह नीचगोत्र कहलाता है। उच्चगोत्र के उदय से जीव उच्च कुल, उच्च जाति में जन्म लेता है। जिसके कारण तप, ऐश्वर्य आदि प्रायः सुलभ होता है और नीचगोत्र के उदय से नीच कुल, नीच जाति में जन्म धारण करता है, उसमें तप, ऐश्वर्य आदि प्रायः दुर्लभ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार आयु, वेदनीय और गोत्र कर्म की चार, दो, दो उत्तर-प्रकृतियां जानना चाहिए।

ज्ञानावरण आदि सात कर्मों की उत्तरप्रकृतियों के भेदों को बतलाने के पश्चात अब शेष रहे नामकर्म की उत्तरप्रकृतियों का निरूपण करते हैं।

नामकर्म की उत्तरप्रकृतियां

गइजाइसरीरंगं बंधण संघायणं च संघयणं।
संठाण वन्नगंधरसफास अणुपुव्वि विहगगई ॥६॥

शब्दार्थ—गइजाइसरीरंग—गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, **बंधण**—बंधन, **संघायणं**—संघातन, **च**—और, **संघयणं**—संहनन, **संठाण**—संस्थान, **वन्नगंधरसफास**—वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, **अणुपुव्वि**—आनुपूर्वी, **विहगगई**—विहायोगति।

गाथार्थ—गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, बंधन, संघातन, संहनन, संस्थान, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, आनुपूर्वी और विहायोगति, ये नामकर्म की चौदह पिंड प्रकृतियां हैं।

विशेषार्थ—अन्य सात कर्मों की अपेक्षा नामकर्म की उत्तरप्रकृतियों की संख्या सबसे अधिक है। जिनको पिंडप्रकृति और प्रत्येक-प्रकृति इन दो वर्गों में विभाजित करके निरूपण किया गया है। इस गाथा में पिंडप्रकृतियों के नाम बतलाये हैं।

जिनके और अवान्तर भेद हो सकते हैं, उन्हें **पिंडप्रकृति** कहते हैं। ऐसी पिंडप्रकृतियों की संख्या चौदह है। अवान्तर भेदों के नाम सहित जिनके लक्षण इस प्रकार हैं।

गति—तथाप्रकार के कर्मप्रधान जीव द्वारा जो प्राप्त की जाये अथवा तथाप्रकार के कर्म द्वारा जीव जिसको प्राप्त करे, उसे **गति**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहते हैं।[1] यद्यपि शरीर, संहनन आदि सभी कर्मों द्वारा प्राप्त होते हैं तथापि गति यह रूढ़ अर्थवाली होने से आत्मा की जो नारकत्व आदि पर्याय होती है, इसी अर्थ में गति शब्द का उपयोग होता है। गति के चार भेद हैं। (१) नरकगति, (२) तिर्यंचगति, (३) मनुष्यगति और (४) देवगति।[2] मनुष्यत्व, देवत्व आदि रूप उस-उस पर्याय के होने में हेतुभूत जो कर्म उसे तत्तत् गति नामकर्म कहते हैं। जैसे कि जिस कर्म के उदय से आत्मा को देव पर्याय की प्राप्ति हो उसे देवगति नामकर्म कहते हैं। इसी प्रकार मनुष्यगति 'आदि के लक्षण भी समझ लेना चाहिये।

जाति—अनेक भेद-प्रभेद वाले एकेन्द्रिय आदि जीवों का एकेन्द्रियत्व आदि रूप जो समान—एक जैसा परिणाम कि जिससे अनेक प्रकार के एकेन्द्रियादि जीवों का एकेन्द्रियादि के रूप में व्यवहार हो, ऐसे सामान्य को जाति और उसके कारणभूत कर्म को जातिनामकर्म कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि द्रव्यरूप बाह्य और आभ्यंतर नासिका, कर्ण आदि इन्द्रियां तो अंगोपांग नामकर्म और इन्द्रियपर्याप्ति नामकर्म के सामर्थ्य से और भावेन्द्रियां स्पर्शनादि इन्द्रियावरणकर्म के क्षयोपशम से सिद्ध हैं। परन्तु यह एकेन्द्रिय है, यह द्वीन्द्रिय है, इस प्रकार के शब्दव्यवहार में कारण तथाप्रकार का समान परिणाम रूप जो सामान्य, वह अन्य से असाध्य होने से, उसका कारण जातिनामकर्म है।[3] उसके पांच

---

१ दिगम्बर कर्मसाहित्य में गतिनामकर्म का लक्षण यह बताया है—जिसके उदय से जीव भवान्तर को जाता है—

यदुदयाज्जीवः भवान्तरं गच्छतिः सा गतिः।

—दि. कर्मप्रकृति पृ. ३५

२ नारकतैर्यग्योनमानुषदैवानि। —तत्त्वार्थसूत्र ८।११

३ चेतनाशक्ति के विकास के तारतम्य की व्यवस्था में जातिनामकर्म कारण है। जैसे कि एकेन्द्रिय की अपेक्षा द्वीन्द्रिय में चेतना का विकास अधिक है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर क्रमशः त्रीन्द्रिय आदि के लिए समझ लेना चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भेद हैं—(१) एकेन्द्रिय जातिनामकर्म, (२) द्वीन्द्रिय जातिनामकर्म, (३) त्रीन्द्रिय जातिनामकर्म, (४) चतुरिन्द्रिय जातिनामकर्म, (५) पंचेन्द्रिय जातिनामकर्म। जिस कर्म के उदय से अनेक भेद-प्रभेद वाले एकेन्द्रिय जीवों में ऐसा समान परिणाम हो कि जिससे उन सभी को यह कहा जाये कि यह एकेन्द्रिय है ऐसा सामान्य नाम से व्यवहार हो उसे एकेन्द्रिय जातिनामकर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से अनेक भेद वाले द्वीन्द्रिय जीवों में ऐसा कोई समान बाह्य आकार हो कि जिसके कारण ये सभी जीव द्वीन्द्रिय हैं, ऐसा सामान्य नाम से व्यवहार हो उसे द्वीन्द्रिय जातिनामकर्म कहते हैं। इसी प्रकार त्रीन्द्रियादि जातिनामकर्मों का अर्थ समझ लेना चाहिए।[1]

शरीर—जो जीर्ण-शीर्ण हो, सुख-दुःख के उपभोग का जो साधन हो, उसे शरीर कहते हैं। उसके पांच भेद हैं—(१) औदारिकशरीर, (२) वैक्रियशरीर, (३) आहारकशरीर, (४) तैजसशरीर, (५) कार्मणशरीर।[1] इन औदारिक आदि शरीरों की प्राप्ति में हेतुभूत जो कर्म, उसे शरीरनामकर्म कहते हैं। जिस कर्म के उदय से औदारिकशरीर योग्य पुदगलों का ग्रहण करके औदारिकशरीर रूप में परिणत करे और परिणत करके जीवप्रदेशों के साथ एकाकार रूप से संयुक्त करे उसे औदारिकशरीरनामकर्म कहते हैं। इसी प्रकार शेष वैक्रिय आदि शरीरनामकर्मों की व्याख्या कर लेना चाहिए कि औदारिक आदि

---

१ गति और जाति नामकर्मों को पृथक्-पृथक् मानने के कारण को परिशिष्ट में स्पष्ट किया है।

२ इन औदारिक आदि पांच शरीरों में से औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, ये चार नोकर्मशरीर हैं और कार्मण कर्मशरीर है—

ओरालिय वेउव्विय आहारय तेजणामकम्मुदए।
चउणोकम्मसरीरा कम्मेव य होइ कम्मइयं॥

—दि. कर्मप्रकृति पृ. ३६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्तत् शरीरों की प्राप्ति में औदारिक आदि नामकर्म कारण हैं। जिसका विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

तत्तत् शरीरनामकर्म का उदय होने पर उस-उस शरीर के योग्य लोक में विद्यमान पुद्गलों को ग्रहण करके उनको उस शरीर रूप में परिणत करना शरीरनामकर्म का कार्य है। जैसेकि औदारिक शरीरनामकर्म का उदय होने पर औदारिकवर्गणा में से पुद्गलों को ग्रहण करके जीव उन्हें औदारिक रूप परिणमित करता है। कर्म कारण है और शरीर कार्य है। कर्म कार्मणवर्गणा का परिणाम है और औदारिकादि शरीर औदारिक आदि वर्गणाओं के परिणाम हैं।

औदारिक, वैक्रिय, आहारक और तैजस नामकर्म का उदय होता है तब औदारिक, वैक्रिय, आहारक और तैजस वर्गणाओं में से पुद्गलों को ग्रहण करके तत्तत् शरीर का निर्माण होता है। इसी प्रकार कार्मण शरीरनामकर्म के द्वारा कार्मणवर्गणा में से पुद्गलों को ग्रहण करके उन्हें कर्मरूप से परिणत किया जाता है।

यद्यपि कार्मणशरीरनामकर्म भी कर्मवर्गणाओं का परिणाम है और कार्मणशरीर भी कार्मणवर्गणाओं से ही बना हुआ है। जिससे ये दोनों एक जैसे मालूम पड़ते हैं। परन्तु वैसा नहीं है, दोनों भिन्न-भिन्न हैं। कार्मणशरीरनामकर्म, नामकर्म की उत्तरप्रकृतियों में से एक प्रकृति है और कार्मणवर्गणाओं को ग्रहण करने में हेतु है। जब तक कार्मणशरीरनामकर्म का उदय है, तब तक ही कार्मणवर्गणाओं में से कर्मयोग्य पुद्गलों को आत्मा ग्रहण कर सकती है तथा आत्मा के साथ एकाकार हुई आठों कर्मों की अनन्त वर्गणाओं के पिंड का नाम कार्मण-शरीर है। कार्मणशरीर अवयवी है और कर्म की प्रत्येक उत्तरप्रकृतियां उसकी अवयव हैं। कार्मणशरीरनामकर्म बंध में से आठवें गुणस्थान के छठे भाग में, उदय में से तेरहवें गुणस्थान में और सत्ता में से चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम समय में विच्छेद को प्राप्त होता है। जबकि कार्मणशरीर का सम्बन्ध चौदहवें गुणस्थान के चरम समय पर्यन्त है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कार्मणशरीरनामकर्म का उदय तेरहवें गुणस्थान तक ही होता है, जिससे वहाँ तक ही कर्मयोग्य पुदगलों का ग्रहण होता है, चौदहवें गुणस्थान में नहीं होता है। किन्तु कार्मणशरीरनामकर्म का कार्य कार्मणशरीर चौदहवें गुणस्थान के चरम समय पर्यन्त होता है।

अंगोपांग— गाथागत अंग शब्द से अंगोपांग पद को ग्रहण करना चाहिए। मस्तक आदि अंग कहलाते हैं। वे आठ हैं और उनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) मस्तक, (२) वक्षस्थल (छाती), (३) पेट, (४) पीठ, (५-६) दो बाहें और (७-८) दो जंघायें।

इनके अवयव रूप अंगुली, नाक, कान आदि को उपांग और इन अंगोपांगों के भी अवयव रूप नख, केश आदि को अंगोपांग कहते हैं। व्याकरण के नियम से अंग-उपांग का समास करने पर अंगोपाग और उसके साथ अंगोपांग का समास करने एवं एक अंगोपांग का लोप हो जाने पर अंगोपाग शब्द शेष रहता है।

जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर में अंग—हाथ आदि, उपांग—अंगुली आदि और अंगोपांग—नख, केश आदि रूप में पुद्गलों का परिणमन हो, उसको अंगोपांगनामकर्म कहते हैं। औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन तीनों शरीरों में अंगोपांग होते हैं। अतः अंगोपांग-नामकर्म के तीन भेद होते हैं—(१) औदारिक अंगोपांग, (२) वैक्रिय अंगोपांग, (३) आहारक अंगोपांग।

तैजस और कार्मण शरीर जीव की आकृति के अनुरूप होने से उनमें अंगोपांग नहीं होते हैं किन्तु औदारिक आदि तीन शरीरों की आकृतियों का वे अनुकरण करते हैं, जिससे इन तीनों में अंगोपांग पाये जाते हैं।

जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर रूप में परिणत हुए पुद्गलों का औदारिक शरीर के योग्य अंग-उपांग और अंगोपांग का स्पष्ट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विभाग रूप में परिणमन हो उसे औदारिक अंगोपांगनामकर्म कहते हैं। इसी प्रकार वैक्रिय और आहारक अंगोपांगनामकर्मों का स्वरूप समझ लेना चाहिए।

बंधन—जिस कर्म के उदय से पूर्व ग्रहीत और गृह्यमाण औदारिक आदि पुद्गलों का परस्पर सम्बन्ध हो, उसे बंधननामकर्म कहते हैं। इसके पांच भेद हैं। जिनका स्वरूप आगे स्पष्ट किया जायेगा। बंधननामकर्म आत्मा और पुद्गलों का अथवा परस्पर पुद्गलों का एकाकार सम्बन्ध होने में कारण है।

संघातन—जिस कर्म के उदय से औदारिकादि पुद्गल औदारिकादि शरीर की रचना का अनुसरण करके पिंडरूप होते हैं, उसे संघातननामकर्म कहते हैं। इसके भी पांच भेद हैं, जिनका स्वरूप आगे कहा जायेगा।

संहनन—हड्डियों की रचनाविशेष को संहनन कहते हैं और वह औदारिक शरीर में ही पाया जाता है। क्योंकि औदारिक शरीर के सिवाय अन्य वैक्रिय आदि किसी शरीर में हड्डियां नहीं होती हैं, जिससे उनमें संहनन भी नहीं पाया जाता है। हड्डियों के मजबूत या शिथिल बंधन होने में संहनननामकर्म कारण है। उसके छह भेदों के नाम इस प्रकार हैं—(१) वज्रऋषभनाराच संहनन, (२) ऋषभनाराच संहनन, (३) नाराच संहनन, (४) अर्धनाराच संहनन, (५) कीलिका संहनन और (६) सेवार्त संहनन। जिनके लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) वज्र शब्द का अर्थ है कील, ऋषभ का अर्थ है हड्डियों को लपेटने वाली पट्टी और नाराच का अर्थ है मर्कटबंध। अतः जिस संहनन में दो हड्डियां दोनों बाजुओं से मर्कटबंध से बंधी हुई हों और पट्टी के आकार वाली तीसरी हड्डी के द्वारा लिपटी हों और इन तीनों हड्डियों को भेदने वाली हड्डी की कीली लगी हुई हो। ऐसे मजबूत बंध को वज्रऋषभनाराच कहते हैं और इस प्रकार के मजबूत बंध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होने में हेतुभूत जो कर्म हो वह वज्रऋषभनाराच संहनननामकर्म कहलाता है।

(२) जिस कर्म के उदय से हड्डियों की रचनाविशेष में दोनों तरफ मर्कटबंध हो और तीसरी हड्डी का वेठन भी हो, लेकिन तीनों हड्डियों को भेदने वाली कीली सरीखी हड्डी न हो, उसे ऋषभ-नाराच कहते हैं और इस प्रकार के बन्धन में हेतुभूत कर्म को ऋषभ-नाराच संहनननामकर्म कहते हैं।

(३) हड्डियों की जिस रचनाविशेष में दो हड्डियां मात्र मर्कट-बंध से बंधी हुई हों, उसे नाराच कहते हैं और उसके हेतुभूत कर्म को नाराच संहनननामकर्म कहते हैं।

(४) जिसके अन्दर एक बाजू मर्कटबंध है और दूसरी बाजू हड्डी रूप कीली का बंध हो उसे अर्धनाराच कहते हैं और उसका हेतुभूत कर्म अर्धनाराच संहनननामकर्म कहलाता है।

(५) हड्डियों की जिस रचनाविशेष में मर्कटबंध और वेठन न हो, मात्र कीली से हड्डियां जुड़ी हुई हों, उसे कीलिका कहते हैं और उसका हेतुभूत कर्म कीलिका संहनननामकर्म कहलाता है।

(६) जिस अस्थिरचना में हड्डियों के सिरे-छोर परस्पर स्पर्श करते हुए हों और जो हमेशा तेलमर्दन आदि की अपेक्षा रखता है उसे सेवार्त संहनन[1] और उसके हेतुभूत कर्म को सेवार्त संहनननाम-कर्म कहते हैं।

संस्थान—अर्थात् आकारविशेष। ग्रहण किये हुए शरीर की रचना के अनुसार व्यवस्थित और परस्पर संबद्ध हुए औदारिक आदि पुद्गलों

१ ऋषभनाराच, कीलिका और सेवार्त संहनन के लिए दिगम्बर कर्मसाहित्य में वज्रनाराच, कीलित और असंप्राप्तसृपाटिका संहनन शब्द का प्रयोग किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में संस्थान-आकारविशेष जिस कर्म के उदय से उत्पन्न होता है, उसे संस्थाननामकर्म कहते हैं। शरीर का अमुक-अमुक प्रकार का आकार बनने में संस्थाननामकर्म कारण है। उसके छह भेद इस प्रकार हैं—

(१) समचतुरस्र, (२) न्यग्रोधपरिमण्डल, (३) सादि, (४) कुब्ज, (५) वामन और (६) हुण्ड। इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) सामुद्रिकशास्त्र में बताये गये लक्षण और प्रमाण से अविसंवादी चारों दिग्विभाग जिस शरीर के अवयवों में समान हों, उसे समचतुरस्र कहते हैं। यानी जिस शरीर में सामुद्रिकशास्त्र में जिस प्रकार से शरीर का प्रमाण और लक्षण कहा है उसी रूप में शरीर का प्रमाण और लक्षण हो तथा पालथी मारकर बैठने से जिस शरीर के चारों कोण समान हों, यानी आसन और कपाल का अन्तर, दोनों घुटनों का अन्तर, दाहिने कन्धे और बायें जानु का अंतर, बांये कंधे और दाहिने जानु का अन्तर समान हो, उसे समचतुरस्रसंस्थान कहते हैं और इसका हेतुभूत जो कर्म वह समचतुरस्र संस्थाननामकर्म कहलाता है।

(२) न्यग्रोध—वटवृक्ष के जैसा परिमण्डल-आकार जिस शरीर में हो उसे न्यग्रोधपरिमण्डल कहते हैं। अर्थात् जैसे वटवृक्ष का ऊपरी भाग शाखा, प्रशाखा और पत्तों आदि से सम्पूर्ण प्रमाणवाला सुशोभित होता है और नीचे का भाग हीन (सुशोभित नहीं) होता है, उसी प्रकार जिस शरीर में नाभि से ऊपर के अवयव सम्पूर्ण लक्षणयुक्त और प्रमाणोपेत हों और नाभि से नीचे के अवयव लक्षणयुक्त एवं प्रमाणोपेत न हों, वह न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान कहलाता है और उसके हेतुभूत कर्म को न्यग्रोधपरिमंडल संस्थाननामकर्म कहते हैं।

(३) तीसरे संस्थान का नाम सादि है। जो संस्थान आदि सहित हो उसे सादि कहते हैं। यहाँ आदि शब्द से उत्सेध जिसकी संज्ञा है, ऐसा नाभि से नीचे का भाग ग्रहण करना चाहिये। जिससे आदि—नाभि से नीचे का देहभाग यथोक्त प्रमाण, लक्षणोपेत हो, उसे सादि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहते हैं। यद्यपि नाभि से नीचे के देहभागयुक्त तो सभी शरीर हैं, तथापि सादित्व विशेषण की अन्यथा अनुपपत्ति से उक्त विशिष्ट अर्थ ग्रहण करना चाहिये। जिसका अर्थ यह हुआ कि जिसमें नाभि से नीचे के शरीर-अवयव तो यथोक्त प्रमाण और लक्षण युक्त हों और नाभि से ऊपर के अवयव यथोक्त प्रमाण और लक्षण युक्त न हों उसे सादि संस्थान कहते हैं।

कुछ दूसरे आचार्य सादि शब्द के स्थान पर 'साचि' शब्द का प्रयोग करते हैं। इस शब्दप्रयोग के अनुसार साचि शब्द का शाल्मलीवृक्ष (सेमल) यह अर्थ होता है। अतः जो संस्थान साचि जैसा हो अर्थात् जैसे शाल्मलीवृक्ष का स्कन्ध अतिपुष्ट और सुन्दर होता है और ऊपर के भाग में उसके अनुरूप महान विशालता नहीं होती है, उसी प्रकार जिस संस्थान में शरीर का अधोभाग परिपूर्ण हो और ऊपर का भाग तथाप्रकार का न हो उसे साचिसंस्थान कहते हैं। उसका हेतुभूत जो कर्म है सादिसंस्थान[1] नामकर्म कहलाता है।

(४) जिसमें मस्तक, ग्रीवा, हस्त, पाद आदि अवयव प्रमाण और लक्षण युक्त हों, किन्तु वक्षस्थल और उदर आदि अवयव कूबड़युक्त हों उसे कुब्जसंस्थान कहते हैं। उसका हेतुभूत कर्म कुब्जसंस्थान नामकर्म कहलाता है।

(५) जिस शरीर में वक्षस्थल, उदर आदि अवयव तो प्रमाणोपेत हों किन्तु हस्तपादादिक हीनतायुक्त हों, वह वामनसंस्थान है और उसका हेतुभूत कर्म वामनसंस्थान नामकर्म कहलाता है।

(६) जिस संस्थान में शरीर के सभी अवयव प्रमाण और लक्षण से हीन हों, बेडौल हों वह हुंडसंस्थान है और ऐसे संस्थान के होने में हेतुभूत जो कर्म वह हुंडसंस्थान नामकर्म कहलाता है।

वर्ण—जिसके द्वारा शरीर अलंकृत किया जाये, उसे वर्ण कहते

---

१ दिगम्बर साहित्य में इसके लिए स्वातिसंस्थान शब्द का प्रयोग किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। वह श्वेत, पीत, रक्त, नील और कृष्ण के भेद से पांच प्रकार का है। शरीरों में तत्तत् प्रकार के वर्णों को उत्पन्न करने का कारणभूत कर्म भी पांच प्रकार का है। उनमें से जिस कर्म के उदय से प्राणियों के शरीर में बगुला, हंस आदि जैसा श्वेत वर्ण होता है, वह श्वेतवर्ण नामकर्म है। इसी प्रकार से अन्य वर्णनामकर्मों का अर्थ भी समझ लेना चाहिये। शरीर में अमुक-अमुक प्रकार का वर्ण-रंग होने में वर्ण-नामकर्म कारण है।

गंध—'वस्त' और 'गंध' धातु अर्दन अर्थात् सूंघने के अर्थ में प्रयुक्त होती है। अतः 'गन्ध्यते आघ्रायते इति गंधः' अर्थात् जो नासिका के द्वारा सूंघा जाये, नासिक का विषय हो, उसे गंध कहते हैं। वह दो प्रकार का है— (१) सुरभिगंध और (२) दुरभिगंध। इन दोनों प्रकार की गंधों का कारणभूत नामकर्म भी दो प्रकार का है। उनमें से जिस कर्म के उदय से प्राणियों के शरीरों में कमल, मालती पुष्प आदि के सदृश सुरभिगंध उत्पन्न होती है, वह सुरभिगंध नामकर्म है और जिस कर्म के उदय से जीवों के शरीर में लहसुन, हींग आदि जैसी खराब व बुरी गंध उत्पन्न होती है उसे दुरभिगंध नामकर्म कहते हैं। अच्छी अथवा बुरी गंध होने में गंध नामकर्म कारण है।

रस—'रस' धातु आस्वादन और स्नेहन के अर्थ में है। अतः 'रस्यते आस्वाद्यते इति रसः' अर्थात् जिसका स्वाद लिया जा सके, उसे रस कहते हैं। वह तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल और मधुर के भेद से पांच प्रकार का है। शरीर में इन रसों की उत्पत्ति का कारणभूत नामकर्म भी पांच प्रकार का है। उनमें से जिस कर्म के उदय से जीवों के शरीरों में मिर्ची आदि के समान तिक्त (चरपरा) रस उत्पन्न होता है, उसे तिक्तरस नामकर्म कहते हैं। इसी प्रकार शेष रस नामकर्मों का भी लक्षण समझ लेना चाहिए।

स्पर्श—'छुप' और 'स्पर्श' धातु छूने के अर्थ में प्रयुक्त होती है। अतः 'स्पृश्यते इति स्पर्शः' अर्थात् जो छुआ जाये, स्पर्शनेन्द्रिय का विषय हो, उसे स्पर्श कहते हैं। वह कर्कश, मृदु, लघु, गुरु, स्निग्ध, रूक्ष,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शीत और उष्ण के भेद से आठ प्रकार का है। इस स्पर्श का कारणभूत नामकर्म भी आठ भेद वाला है। उनमें से जिसके उदय से प्राणियों के शरीरों में पाषाण आदि के समान कर्कशता उत्पन्न होती है, वह कर्कश नामकर्म है। इसी प्रकार शेष स्पर्श नामकर्मों का अर्थ समझ लेना चाहिए। शरीर में तत्ता प्रकार का स्पर्श होने में स्पर्श नामकर्म कारण है।[1]

आनुपूर्वी—कूर्पर, लांगल और गोमूत्रिका के आकार रूप से क्रमशः दो, तीन और चार समय प्रमाण विग्रह द्वारा एक भव से दूसरे भव में जाते जीव की आकाशप्रदेश की श्रेणी के अनुसार जो गति होती है उसे आनुपूर्वी कहते हैं। उस प्रकार के विपाक द्वारा वेद्य यानी उस प्रकार के फल का अनुभव कराने वाली जो कर्मप्रकृति वह आनुपूर्वी नामकर्म है। वह चार प्रकार की है—(१) नरकगत्यानुपूर्वी, (२) तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, (३) मनुष्यगत्यानुपूर्वी और (४) देवगत्यानुपूर्वी। उनमें से जिस कर्म के उदय से वक्रगति के द्वारा नरक में जाते हुए जीव की आकाशप्रदेश की श्रेणी के अनुसार गति होती है, उसे नरकगत्यानुपूर्वी नामकर्म कहते हैं। इसी प्रकार शेष तीन आनुपूर्वी नामकर्म का अर्थ समझ लेना चाहिए। विग्रहगति के सिवाय जीव इच्छानुकूल चाहे जैसा जा सकता है परन्तु विग्रहगति में तो आकाशप्रदेश की

---

१ वर्ण, गंध, रस, और स्पर्श नामकर्म की सभी प्रकृतियां ध्रुवोदया होने से प्रत्येक जीव के प्रतिसमय उदय में होती हैं। जिससे यह शंका हो सकती है कि श्वेत और कृष्ण ऐसी परस्पर विरोधी प्रकृतियों का एक साथ उदय कैसे हो सकता है? तो इसका उत्तर यह है कि ये सभी प्रकृतियां शरीर के अमुक-अमुक भाग में अपना-अपना कार्य करके कृतार्थ होती हैं। जैसेकि बालों का वर्ण कृष्ण, खून का लाल, दांत आदि का श्वेत, पित्त का पीला या हरा वर्ण होता है। इसी प्रकार गंध आदि के लिए भी समझ लेना चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रेणी के अनुसार ही जीव की गति होती है और उसमें आनुपूर्वी नामकर्म कारण है।[1]

विहायोगति—विहायस्—आकाश द्वारा होने वाली गति विहायोगति कहलाती है।

इस पर जिज्ञासु प्रश्न करता है—

प्रश्न—आकाश के सर्वव्यापक होने से आकाश के सिवाय गति होना सम्भव नहीं है तो फिर विहायस् यह विशेषण किसलिए ग्रहण किया गया है। क्योंकि व्यवच्छेद—पृथक् करने योग्य वस्तु का अभाव है। विशेषण का प्रयोग प्रायः एक वस्तु से दूसरी वस्तु को अलग बताने के लिए किया जाता है और यहाँ आकाश के सिवाय अन्यत्र गति संभव नहीं होने से कोई व्यवच्छेद्य नहीं है। इसलिये विहायस् यह विशेषण व्यर्थ है।

उत्तर—यहाँ विहायस् विशेषण नामकर्म की प्रथम प्रकृति गतिनामकर्म से पार्थक्य बतलाने के लिए प्रयुक्त हुआ है। क्योंकि यहाँ मात्र गतिनामकर्म इतना ही कहा जाता तो शंका हो सकती थी कि पहले गतिनामकर्म कहा जा चुका है तब यहाँ पुनः किसलिए कहा है। अतः इस शंका का निवारण करने के लिए विहायस् यह सार्थक विशेषण दिया गया है। जिससे यह स्पष्ट हो सके कि जीव चलता है, गति करता है, उस गति में विहायोगति नामकर्म कारण है। परन्तु नारकादि पर्याय होने में हेतु नहीं है।

उसके दो भेद हैं—(१) शुभ विहायोगति, (२) अशुभ विहायोगति। जिस कर्म के उदय से हंस, हाथी और बैल जैसी सुन्दर गति—चाल प्राप्त हो उसे शुभ विहायोगति नामकर्म और जिस कर्म के उदय से गधा,

---

१ दिगम्बर साहित्य में आनुपूर्वी नामकर्म का लक्षण इस प्रकार बताया है—जिसके उदय से विग्रहगति में जीव का आकार पूर्व शरीर के समान बना रहे—पूर्वशरीराकाराविनाशो यस्योदयाद् भवति तदानुपूर्व्यं नाम।

—दि. कर्मप्रकृति, पृ. ४४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऊँट आदि जैसी अशुभ गति—चाल की प्राप्ति हो उसे अशुभ विहायोगति नामकर्म कहते हैं।

इस प्रकार से चौदह पिंडप्रकृतियों के लक्षण जानना चाहिये। इन चौदह पिंडप्रकृतियों के अवान्तर भेद पैंसठ होते हैं।

अब प्रत्येक प्रकृतियों को बतलाते हैं। उनके दो भेद ये हैं—(१) सप्रतिपक्ष और (२) अप्रतिपक्ष। जिसकी विरोधिनी प्रकृति तो हो किन्तु अवान्तर भेद नहीं हो सकते हैं, उसे सप्रतिपक्ष प्रत्येक प्रकृति कहते हैं जैसे त्रस-स्थावर आदि तथा जिसकी विरोधिनी प्रकृति एवं अवान्तर भेद भी न हों उसे अप्रतिपक्ष प्रत्येक प्रकृति कहते हैं, जैसे कि अगुरुलघु इत्यादि। इन दो प्रकार की प्रत्येक प्रकृतियों में अल्पवक्तव्य होने से पहले अप्रतिपक्ष प्रत्येक प्रकृतियों का स्वरूप बतलाते हैं—

अगुरुलहु उवघायं परघाउस्सासआयवुज्जोयं।
निम्माण तित्थनामं चोद्दस अड पिंडपत्तेया ॥७॥

शब्दार्थ—**अगुरुलहु**—अगुरुलघु, **उवघायं**—उपघात, **परघा**—पराघात, **उस्सास**—उच्छ्वास, **आयवुज्जोयं**—आतप, उद्योत, **निम्माण**—निर्माण, **तित्थनामं**—तीर्थंकर नाम, **चोद्दस**—चौदह, **अड**—आठ, **पिंड**—पिंडप्रकृतियां, **पत्तेया**—प्रत्येक प्रकृतियां।

गाथार्थ—अगुरुलघु, उपघात, पराघात उच्छ्वास, आतप, उद्योत, निर्माण और तीर्थंकरनाम ये आठ प्रत्येक प्रकृतियां हैं और पूर्वगाथा में कही गई चौदह पिंड प्रकृतियां जानना चाहिये।

विशेषार्थ—पूर्व गाथा में चौदह पिंड प्रकृतियों को बतलाने के बाद यहाँ अप्रतिपक्षा आठ प्रत्येक प्रकृतियों के नाम बतलाये हैं। जिनके नाम और लक्षण इस प्रकार हैं—

अगुरुलघु—जिस कर्म के उदय से जीवों के शरीर न तो बहुत भारी, न बहुत लघु हों और न गुरुलघु हों, किन्तु यथायोग्य अगुरुलघु परिणाम में परिणत हों, उसे अगुरुलघु नामकर्म कहते हैं।

अगुरुलघु नामकर्म का सम्पूर्ण शरीराश्रित विपाक होता है। उसके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदय से न तो सम्पूर्ण शरीर लोहे के गोले जैसा भारी और न रुई जैसा हलका और न शरीर का अमुक भाग गुरु या अमुक भाग लघु होता है। किन्तु न भारी न हलका, ऐसा अगुरुलघु परिणाम वाला होता है। स्पर्श नामकर्म के गुरु और लघु जो दो भेद कहे हैं, वे शरीर के अमुक-अमुक अवयव में ही अपनी शक्ति बतलाते हैं। जैसे कि हड्डी आदि में गुरुता और बाल आदि में लघुता होती है। इन दोनों स्पर्श-नामकर्म का विपाक समस्त शरीराश्रित नहीं है।

उपघात—जिस कर्म के उदय से शरीर के अवयवों में ही वृद्धि को प्राप्त प्रतिजिह्वा, गलवृन्द, गांठ—कंठमाल, चौरदन्त आदि के द्वारा प्राणी उपघात को प्राप्त हो, दुःखी हो अथवा स्वयंकृत उद्‌बंधन (फांसी लगाना), भैरवप्रपात (पर्वत आदि से छलांग लगाना) आदि के द्वारा मर जाना उपघात नामकर्म कहलाता है।

पराघात—जिस कर्म के उदय से जीव ओजस्वी हो कि बड़े-बड़े महाराजाओं की सभा में जाने पर भी अपने दर्शनमात्र से अथवा वचन सौष्ठवता से उस सभा के सदस्यों को त्रास उत्पन्न करे, क्षोभ पैदा करे और प्रतिवादी की प्रतिभा का घात करे, उसे पराघात नामकर्म कहते हैं।[1]

उच्छ्‌वास—जिस कर्म के उदय उच्छ्‌वास-निच्छ्‌वासलब्धि (श्वासोच्छ्‌वासलब्धि) उत्पन्न होती है, वह उच्छ्‌वास नामकर्म है।

यहाँ जिज्ञासु का प्रश्न है—

---

१ दिगम्बर कर्मसाहित्य में पराघात नामकर्म का यह लक्षण किया है—'परेषां घातः परघातः। यदुदयात्तीक्ष्णशृंगनखविषसर्पदाढादयो भवन्ति अवयवास्तत्परघात नाम।'

जिस कर्म के उदय से दूसरे के घात करने वाले अवयव होते हैं, उसे परघात नामकर्म कहते हैं। जैसे शेर, चीते आदि की विकराल दाढ़ें होना, पंजे के तीक्ष्ण नख होना। सांप की दाढ़ और बिच्छू की पूंछ में विष होना इत्यादि तथा पराघात के स्थान पर परघात शब्द का प्रयोग किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्न—जबकि सभी लब्धियां क्षायोपशमिकभाव अर्थात् वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होती हैं, तब श्वासोच्छ्वासलब्धि में पुनः श्वासोच्छ्वासनामकर्म का उदय मानने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—कितनी ही लब्धियों में कि जिनमें लोक में विद्यमान पुद्गलों को ग्रहण करना हो और ग्रहण करके श्वासोच्छ्वासादि रूप में परिणमित करना हो, वहाँ कर्म का उदय भी मानना आवश्यक है। क्योंकि कर्म के उदय के बिना लोक में विद्यमान पुद्गलों को ग्रहण करके परिणमाया नहीं जा सकता है। जैसे कि किसी चतुर्दश पूर्वधर संयमी श्रमण को आहारकलब्धि प्राप्त हो और जब उसको आहारकशरीर करना हो तब लोक में व्याप्त आहारकवर्गणाओं में से पुद्गलों को ग्रहण करके आहारक रूप से परिणमित किया जाता है। यह ग्रहण और परिणमन कर्म के उदय बिना नहीं होता है। यद्यपि वहाँ तदनुकूल वीर्यान्तरायकर्म का क्षयोपशम तो होना ही चाहिये, यदि वह न हो तो लब्धिप्रयोग किया ही नहीं जा सकता है। जैसे कि वैक्रियशरीरनामकर्म की सत्ता प्रायः प्रत्येक पंचेन्द्रिय संज्ञी तिर्यंच, मनुष्य को होती है, लेकिन सभी मनुष्य, तिर्यंच वैक्रियशरीर नहीं बना सकते हैं, जिसको अनुकूल क्षयोपशम हो वही कर सकता है। उसी प्रकार यहाँ भी श्वासोच्छ्वास पुद्गलों का ग्रहण एवं परिणमन किया जाता है। इसी प्रयोजन से श्वासोच्छ्वास नामकर्म मानने की आवश्यकता है।

आतप—जिस कर्म के उदय से जीवों के शरीर मूलरूप से अनुष्ण (उष्णतारहित-शीतल) हों, किन्तु उष्ण प्रकाश रूप ताप करते हैं, उसे आतप नामकर्म कहते हैं। इसका उदय सूर्यमण्डलगत पृथ्वीकायिक जीवों में ही होता है, अग्नि में नहीं। क्योंकि सिद्धान्त में अग्नि के आतप नामकर्म के उदय का निषेध किया है। किन्तु अग्नि में उष्णता उष्णस्पर्शनामकर्म के उदय से और उत्कट लोहितवर्ण नामकर्म के उदय से प्रकाशकत्व बताया है। आतपोदय से तो स्वयं अनुष्ण होकर दूरस्थ वस्तु पर उष्ण प्रकाश होता है। जबकि अग्नि स्वयं उष्ण है और मात्र थोड़ी दूर रही हुई वस्तु पर उष्ण प्रकाश करती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उद्योत—जिस कर्म के उदय से जीवों के शरीर शीतल प्रकाश रूप उद्योत करते हैं, उसे उद्योत नामकर्म कहते हैं। इसका उदय साधु और देवों के उत्तरवैक्रियशरीर में, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और ताराओं के विमानों में, रत्नों और औषधिविशेषों में होता है।

निर्माण—जिस कर्म के उदय से जीवों के शरीरों में अपनी-अपनी जाति के अनुसार अंग-प्रत्यंग की नियत स्थानवर्तिता (जिस स्थान पर जो अंग-प्रत्यंग होना चाहिए, तदनुरूप उसकी व्यवस्था) होती है, उसे निर्माण नामकर्म कहते हैं। यह कर्म सूत्रधार के समान है। इस कर्म का अभाव मानने पर भृत्य-नौकर के सदृश अंगोपांगनामादि के द्वारा शिर, उदर, वक्षस्थल आदि की रचना होने पर भी नियत स्थान पर उनकी रचना होने का नियम नहीं बन सकता है।[1]

तीर्थंकरनाम—जिस कर्म के उदय से अष्ट महाप्रातिहार्य आदि चौंतीस अतिशय प्रगट होते हैं, वह तीर्थंकर नामकर्म है।

इस प्रकार से गाथा में बताई गई नामकर्म की आठ अप्रतिपक्षा प्रत्येक प्रकृतियों के लक्षण जानना चाहिए और चौदह पिंड प्रकृतियों का स्वरूप पूर्व गाथा में बतलाया जा चुका है। अब शेष रही सप्रतिपक्षा प्रत्येक प्रकृतियों का कथन करते हैं—

तसबायरपज्जत्तं पत्तेय थिरं सुभं च नायव्वं।
सुस्सरसुभगाइज्जं जसकित्ती सेयरा वीसं ॥८॥

शब्दार्थ—**तसबायरपज्जत्तं**—त्रस, बादर, पर्याप्त, **पत्तेय**—प्रत्येक, **थिरं**—स्थिर, **सुभं**—शुभ, **च**—और, **नायव्वं**—जानना चाहिये, **सुस्सर**—

---

१ दिगम्बर कर्मसाहित्य में स्थाननिर्माण और प्रमाणनिर्माण ऐसे निर्माण के दो भेद करके इनका कार्य अंगोपांग को यथास्थान व्यवस्थित करने के उपरांत उनको प्रमाणोपेत बनाना भी माना है।

यन्निमित्तात्परिनिष्पत्तिस्तन्निर्माणनाम। तद्द्विविधम्—स्थाननिर्माणं, प्रमाणनिर्माणं चेति। तत्र जातिनामोदयापेक्षं चक्षुरादीनां स्थानं प्रमाणं च निर्वर्तयति, निर्मीयतेऽनेनेति वा निर्माणम्। —दि. कर्मप्रकृति पृ. ४७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुस्वर, **सुभगाइज्जं**—सुभग, आदेय, **जसकित्ती**—यशःकीर्ति, **सेयरा**—सप्रतिपक्षा, **वीसं**—वीस ।

गाथार्थ—त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुस्वर, सुभग, आदेय और यशःकीर्ति इनके इतर—प्रतिपक्ष सहित बीस भेद जानना चाहिए।

विशेषार्थ—गाथा में नामकर्म की सप्रतिपक्षा बीस प्रकृतियों के नाम बताने के लिए त्रस आदि दस नाम बतलाकर इनके प्रतिपक्षी नामों का संकेत करने के लिये 'सेयरा'—सेतरा (स+इतरा) शब्द दिया है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

नामकर्म की ये सप्रतिपक्षा बीस प्रकृतियां त्रसदशक और स्थावर-दशक के भेद से दो प्रकार की हैं। त्रस से लेकर यशःकीर्ति तक के नामों की संख्या दस होने से इनको त्रसदशक और स्थावर से लेकर अयशः-कीर्ति पर्यन्त दस नाम होने से उनको स्थावरदशक कहते हैं। इन दोनों दशकों की दस-दस प्रकृतियों के नामों को मिलाने से कुल बीस भेद हो जाते हैं।

त्रसदशक की दस प्रकृतियों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) त्रसनाम, (२) बादरनाम, (३) पर्याप्तनाम, (४) प्रत्येकनाम, (५) स्थिरनाम, (६) शुभनाम, (७) सुभगनाम, (८) सुस्वरनाम, (९) आदेय-नाम और (१०) यशःकीर्तिनाम।

स्थावरदशक की दस प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—(१) स्थावर-नाम, (२) सूक्ष्मनाम, (३) अपर्याप्तनाम, (४) साधारणनाम, (५) अस्थिरनाम, (६) अशुभनाम, (७) दुर्भगनाम, (८) दुःस्वरनाम, (९) अनादेयनाम और (१०) अयशःकीर्तिनाम।

इन बीस प्रकृतियों में से त्रसदशक की प्रकृतियों की गणना पुण्य-प्रकृतियों में और स्थावरदशक की प्रकृतियों की गणना पापप्रकृतियों में की जाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिपक्षसहित अर्थात् त्रस-स्थावर इत्यादि के क्रम से इन बीस प्रकृतियों के लक्षण इस प्रकार हैं—

त्रस-स्थावर—ताप आदि से पीड़ित होने पर जिस स्थान में हैं, उस स्थान पर उद्वेग को प्राप्त करते हैं और छाया आदि का सेवन करने के लिये अन्य स्थान पर जाते हैं, ऐसे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव त्रस कहलाते हैं और इस प्रकार के विपाक का वेदन कराने वाली कर्मप्रकृति भी त्रस नामकर्म कहलाती है।

त्रसनाम से विपरीत स्थावर नामकर्म है। अतः जिसके उदय से उष्णता आदि से संतप्त होने पर भी उस स्थान का त्याग करने में जो असमर्थ हैं ऐसे पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और वनस्पति काय के जीव स्थावर कहलाते हैं और उसका हेतुभूत जो कर्म है उसे स्थावरनामकर्म कहते हैं।

बादर-सूक्ष्म— जिस कर्म के उदय से जीव बादर होते हैं, उसे बादर नामकर्म कहते हैं। यह बादरत्व एक प्रकार का परिणामविशेष है कि जिसके कारण पृथ्वीकायादि एक-एक जीव का शरीर चक्षु द्वारा ग्रहण नहीं होने पर भी अनेक जीवों के शरीरों का जब समूह हो जाता है तब उनका चक्षु द्वारा ग्रहण होता है और उसका हेतुभूत जो कर्म है उसे बादरनामकर्म कहते हैं।

बादरनामकर्म से विपरीत सूक्ष्मनामकर्म है। अतः जिस कर्म के उदय से जीवों का सूक्ष्म परिणाम होता है कि जिसके कारण चाहे कितने शरीरों का पिंड एकत्रित हो जाये तो भी देखे न जा सकें, वह सूक्ष्मनामकर्म है।

बादर और सूक्ष्म नामकर्मों के उक्त लक्षणों का सारांश यह है कि जिसे आंख देख सके और आंख देख न सके यह क्रमशः बादर और सूक्ष्म का अर्थ नहीं है। क्योंकि यद्यपि एक-एक बादर पृथ्वीकाय आदि का शरीर आंखों से नहीं देखा जा सकता है। किन्तु बादरनामकर्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पृथ्वीकाय आदि जीवों में एक प्रकार के बादर परिणाम को उत्पन्न करता है, जिससे उनके शरीर समुदाय में एक प्रकार की अभिव्यक्ति हो जाती है और वे शरीर दृष्टिगोचर होते हैं। किन्तु जिन्हें इस कर्म का उदय नहीं होता है, ऐसे सूक्ष्म जीव समुदायरूप में भी एकत्रित हो जायें तो भी दृष्टिगोचर नहीं होते हैं।

बादर और सूक्ष्म नामकर्म ये दोनों प्रकृतियां जीवविपाकिनी प्रकृतियां हैं। जो शरीर के पुद्गलों के माध्यम से जीव में बादर और सूक्ष्म परिणाम उत्पन्न करती हैं। इनको जीवविपाकिनी प्रकृति होने पर भी शरीर के पुद्गलों के माध्यम से अभिव्यक्ति होने का कारण यह है कि जैसे क्रोध के जीवविपाकिनी प्रकृति होने पर भी उसका उद्रेक—भौंह का टेढ़ा होना, आंखों का लाल होना, ओठों की फड़फड़ाहट इत्यादि परिणाम—बाह्य लक्षणों द्वारा प्रगट रूप में दिखलाई देता है, उसी प्रकार इनका भी शरीर में प्रभाव दिखाना विरुद्ध नहीं है। सारांश यह है कि कर्मशक्ति विचित्र है। इसलिये बादरनामकर्म तो पृथ्वीकाय आदि जीवों में एक प्रकार के बादर परिणाम को उत्पन्न कर देता है, जिससे उनके शरीरसमुदाय में एक प्रकार की अभिव्यक्ति प्रगट हो जाती है और वे शरीर दृष्टिगोचर होने लगते हैं। लेकिन सूक्ष्म नामकर्मोदय वाले जीवों में वैसी अभिव्यक्ति प्रगट नहीं हो पाती है।

पर्याप्त-अपर्याप्त—जिस कर्म के उदय से जीव स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण करने में समर्थ होता है, वह पर्याप्तनामकर्म है। इससे विपरीत अपर्याप्तनामकर्म है कि जिसके उदय से जीव अपने योग्य पर्याप्तियों के निर्माण करने में समर्थ नहीं होता है।

पर्याप्त जीवों के दो भेद हैं—(१) लब्धि-पर्याप्त और (२) करण-पर्याप्त। इसी प्रकार अपर्याप्त जीवों के भी दो भेद हैं—(१) लब्धि-अपर्याप्त और (२) करण-अपर्याप्त।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो जीव अपनी-अपनी योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण करके मरते हैं, पहले नहीं वे लब्धि-पर्याप्त हैं और करण-पर्याप्त के दो अर्थ हैं। करण का अर्थ है इन्द्रिय अतः जिन जीवों ने इन्द्रिय-पर्याप्ति पूर्ण कर ली है, वे करण-पर्याप्त हैं। अथवा जिन जीवों ने अपनी योग्य पर्याप्तियां पूर्ण कर ली हैं, वे करण-पर्याप्त कहलाते हैं।

इनसे विपरीत लक्षण वाले जीव क्रमशः लब्धि-अपर्याप्त और करण-अपर्याप्त कहलाते हैं। अर्थात् जो जीव अपनी पर्याप्तियां पूर्ण किये बिना ही मरते हैं, वे लब्धि-अपर्याप्त हैं और जो जीव अभी अपर्याप्त हैं किन्तु आगे की पर्याप्तियां पूर्ण करने वाले हैं, उन्हें करण-अपर्याप्त कहते हैं।

प्रत्येक-साधारण—जिस कर्म के उदय से प्रत्येक जीव को पृथक्-पृथक् शरीर प्राप्त होता है, वह प्रत्येक नामकर्म है। इस कर्म का उदय प्रत्येकशरीरीजीव को होता है। नारक, देव, मनुष्य, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी-संज्ञी पंचेन्द्रिय, पृथ्वी, तेज, वायु और कपित्थ, आम्र आदि प्रत्येक वनस्पति, ये सभी प्रत्येकशरीरी जीव हैं। इन सभी को प्रत्येक नामकर्म का उदय होता है और जिस कर्म के उदय से अनन्त जीवों का एक शरीर होता है, वह साधारण नामकर्म है।

उक्त प्रत्येक और साधारण नामकर्म के लक्षण पर जिज्ञासु प्रश्न पूछता है—

प्रश्न—यदि कपित्थ (कैंथ, कबीट), अश्वत्थ (वट), पीलु (पिलखन) आदि वृक्षों में प्रत्येक नामकर्म का उदय माना जाये तो उनमें एक-एक जीव का भिन्न-भिन्न शरीर होना चाहिये। परन्तु वह तो होता नहीं है। क्योंकि कबीट, आम, पीपल और सेलू आदि वृक्षों के मूल, स्कन्ध, छाल, शाखा आदि प्रत्येक अवयव असंख्य जीव वाले माने गये हैं। प्रज्ञापनासूत्र में एकास्थिक—एक बीज वाले और बहुबीज वाले वृक्षों की प्ररूपणा के प्रसंग में कहा गया है—

'एयसिं मूला असंखिज्जजीविया कन्दा वि खंदा वि तया वि साला वि पवाला वि, पत्ता पत्तेय जीविया।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन-इन वृक्षों के मूल, कन्द, स्कन्ध, छाल, शाखा, प्रशाखा और प्रवाल आदि असंख्य जीव वाले हैं और पत्ते एक-एक जीव वाले हैं इत्यादि। परन्तु मूल से लेकर फल तक सभी अवयव देवदत्त के शरीर की तरह एक शरीराकार रूप में दिखलाई देते हैं। अर्थात् जैसे देवदत्त नामक किसी व्यक्ति का शरीर अखण्ड एक स्वरूप वाला ज्ञात होता है, उसी प्रकार मूल आदि सभी अवयव भी अखण्ड एक स्वरूप से ज्ञात होते हैं। इसलिए कपित्थ आदि वृक्ष अखण्ड एक शरीर वाले हैं और असंख्य जीव वाले हैं। यानी उन कपित्थ आदि का शरीर तो एक है किन्तु उनमें असंख्य जीव हैं। इस कारण उनको प्रत्येक शरीरी कैसे कहा जा सकता है ? क्योंकि एक शरीर में एक जीव नहीं किन्तु एक शरीर में असंख्यात जीव हैं।

उत्तर—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उन मूल आदि में भी असंख्यात जीवों के भिन्न-भिन्न शरीर माने गये हैं।

प्रश्न—शास्त्र के कथानुसार जब वे मूलादि सभी भिन्न-भिन्न शरीर वाले हैं तब वे एकाकार रूप में कैसे दिखलाई देते हैं ?

उत्तर—केवल श्लेषद्रव्य से मिश्रित एकाकार रूप में हुए बहुत से सरसों की बत्ती के सामन प्रबल रागद्वेष से संचित विचित्र प्रत्येकनाम-कर्म के पुद्गलों के उदय से उन सभी जीवों का शरीर भिन्न-भिन्न होने पर भी परस्पर विमिश्र-एकाकार शरीर वाला होता है। अथवा बहुत से तिलों में उनको मिश्रित करने वाले गुड़ आदि डालकर तिलपपड़ी बनाई जाये तो जैसे वे एकाकार हुए प्रत्येक तिल भिन्न-भिन्न होने पर भी एक पिंडरूप में दिखते हैं। उसी प्रकार विचित्र प्रत्येकनामकर्म के उदय से मूल आदि प्रत्येक भिन्न-भिन्न शरीर वाले होने पर भी एकाकार रूप में दिखलाई देते हैं। इस कथन का तात्पर्य यह है कि उस वर्तिका के सरसों परस्पर भिन्न हैं, एकाकार नहीं हैं, क्योंकि वे सभी पृथक्-पृथक् रूप में दिखते हैं। इसी प्रकार वृक्षादि में भी मूल आदि प्रत्येक अवयव में असंख्यात जीव होते हैं, लेकिन वे सभी परस्पर भिन्न-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भिन्न शरीर वाले हैं तथा जैसे वे सरसों संयोजक द्रव्य के सम्बन्ध की विशेषता से परस्पर मिश्रित हुए हैं, उसी प्रकार मूल आदि में रहे हुए प्रत्येकशरीरी जीव भी तथाप्रकार के प्रत्येकनामकर्म के उदय से परस्पर संहत—एकाकार रूप में परिणत हुए हैं।[1]

प्रश्न—अनन्त जीवों का एक शरीर कैसे सम्भव हो सकता है? क्योंकि जो जीव पहले उत्पन्न हुआ, उसने उस शरीर को बनाया और उसके साथ परस्पर सम्बद्ध होने के द्वारा सर्वात्मना अपना बनाया। इसलिए उस शरीर में पहले उत्पन्न हुए जीव का अधिकार होना चाहिये, अन्य जीवों का अधिकार कैसे हो सकता है? देवदत्त के शरीर में जैसे देवदत्त का जीव ही पूर्णतया सम्पूर्ण शरीर के साथ सम्बन्ध रखता है, उसी प्रकार दूसरे जीव उस सम्पूर्ण शरीर के साथ कोई सम्बन्ध रखते हुए उत्पन्न नहीं होते हैं। क्योंकि वैसा दिखलाई नहीं देता है। कदाचित् अन्य जीवों के उत्पन्न होने का अवकाश हो तो भी जिस जीव ने उस शरीर को उत्पन्न करके परस्पर जोड़ने के द्वारा अपना बनाया, वह जीव ही उस शरीर में मुख्य है, इसलिए उसके सम्बन्ध से ही पर्याप्ति-अपर्याप्ति व्यवस्था, प्राणापानादि के योग्य पुद्गलों का ग्रहण आदि होना चाहिये, किन्तु अन्य जीवों के सम्बन्ध से यह सब नहीं होना चाहिये। साधारण में तो वैसा है नहीं। क्योंकि उसमें प्राणापानादि व्यवस्था जो एक की है, वह अनन्त जीवों की और जो अनन्तों की है, वह एक की होती है तो यह कैसे हो सकता है?

उत्तर—साधारणनामकर्म के अर्थ के आशय को न समझने के कारण उक्त कथन योग्य नहीं है। क्योंकि साधारणनामकर्म के उदय वाले अनन्त जीव तथाप्रकार के कर्मोदय के सामर्थ्य से एक साथ ही

---

१ जह सगलसरिसवाणं सिलेसमिस्साण वट्टिया वट्टी।
पत्तेयसरीराणं तह हुंति सरीरसंघाया ॥१॥
जह वा तिलपप्पडिया, बहुएहिं तिलेहिं मीसिया संती।
पत्तेयसरीराणं तह होंति सरीरसंघाया ॥२॥ —प्रज्ञापनासूत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्पत्तिस्थान को प्राप्त होते हैं, एक साथ ही उस शरीर का आश्रय लेकर पर्याप्तियां प्रारम्भ करते हैं, एक साथ ही पर्याप्त होते हैं, एक साथ हीं प्राणापानादि योग्य पुद्गलों को ग्रहण करते हैं, एक का जो आहार वह दूसरे अनन्त जीवों का और जो अनन्त जीवों का आहार वह एक विवक्षित जीव का आहार होता है। शरीर से सम्बन्धित सभी क्रियायें जो एक जीव की वे अनन्त जीवों की और अनन्त जीवों की वे एक जीव की, इस प्रकार समान ही होती हैं। इसलिए यहाँ पर किसी प्रकार की असंगति नहीं समझना चाहिये। साधारण जीवों का यही लक्षण है।[1]

स्थिर-अस्थिर—जिस कर्म के उदय से मस्तक, हड्डियां, दांत आदि शरीर के अवयवों में स्थिरता रहती है, उसे स्थिरनामकर्म कहते हैं और इससे विपरीत अस्थिरनामकर्म है कि जिस कर्म के उदय से जिह्वा आदि शरीर के अवयवों में अस्थिरता होती है।[2]

---

१ समयंवक्कंताण समयं तेसिं सरीरनिप्फत्ती।
समयं आणुग्गहणं समयं उस्सास-निस्सासा ॥१॥
एगस्स उ जं गहणं बहूण साहारणाण तं चेव।
जं बहुयाण गहणं समासओ तंपि एगस्स ॥२॥
साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च।
साहारणजीवाणां साहारणलक्खणं एयं ॥३॥ —प्रज्ञापनासूत्र

उक्त तीन गाथाओं में से तीसरी गाथा दिगम्बर साहित्य में भी समान रूप से प्राप्त होती है। देखो—गो. जीवकांड गाथा १८१, धवला भाग १, पृष्ठ २७०, गा. १४५, तथा पंचसंग्रह १।८२।

साधारणनामकर्म के उक्त लक्षण में यह विशेष ध्यान रखना चाहिये कि यद्यपि साधारण जीवों की शरीर से सम्बन्धित सभी क्रियायें समान होती हैं, किन्तु कर्म का बंध, उदय, आयु का प्रमाण ये सभी साथ में उत्पन्न हुओं का समान ही होता है, ऐसा नहीं है। समान भी हो और हीनाधिक भी हो सकता है।

२ दिगम्बर कर्मसाहित्य में स्थिर और अस्थिर नामकर्म के लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं— —→

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुभ-अशुभ—जिस कर्म के उदय से नाभि से ऊपर के अवयव शुभ होते हैं, वह शुभनामकर्म है और उससे विपरीत अशुभनामकर्म जानना चाहिये कि जिस कर्म के उदय से नाभि से नीचे के शरीर अवयव अशुभ होते हैं।[1] जैसे कि मस्तक के स्पर्श किये जाने पर मनुष्य सन्तोष को प्राप्त करता है अर्थात् प्रसन्न होता है, क्योंकि वह शुभ है और यदि पैर से स्पर्श किया जाये तो रुष्ट होता है, क्योंकि पैर अशुभ हैं।

शुभ और अशुभ की उक्त व्याख्या करने पर जिज्ञासु का प्रश्न है—

प्रश्न—आपने नाभि से नीचे के पैर आदि अवयवों को अशुभ बताया है, फिर भी किसी प्रिय स्त्री के पादस्पर्श से कामी पुरुष को परम सन्तोष होता है। अतएव पैर आदि को अशुभ कहने पर उपर्युक्त शुभ, अशुभ के लक्षण में व्यभिचार, दोष होता है।

जिस कर्म के उदय से शरीर के धातु-उपधातु यथास्थान स्थिर रहें, वह स्थिर नामकर्म है और जिस कर्म के उदय से शरीर के धातु और उपधातु स्थिर न रह सकें, वह अस्थिर नामकर्म है—

यस्योदयाद् रसादि धातूपधातूनां स्वस्थाने स्थिरभाव निर्वर्तनं भवति तत्स्थिरनाम। धातूपधातूनां स्थिरभावेनानिर्वर्तनं यतस्तदस्थिरनाम।

—दि. कर्मप्रकृति पृ. ४७, ४६

१ दिगम्बर साहित्य में शुभ-अशुभ नामकर्म के लक्षण इस प्रकार बताये हैं—

जिस कर्म के उदय से शरीर के अवयव सुन्दर हों, वह शुभ नामकर्म है और जिस के उदय से शरीर के अवयव सुन्दर न हों, वह अशुभ नामकर्म है—

यदुदयाद्रमणीया मस्तकादि प्रशस्तावयवा भवन्ति तच्छुभनाम। यदुदयेनारमणीयमस्तकाद्यवयवनिर्वर्तनं भवति तदशुभनामं।

—दि. कर्मप्रकृति पृ. ४७,४६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तर—उक्त प्रश्न असंगत है। क्योंकि कामी पुरुष को कामिनी के पाद आदि के स्पर्श से जो सन्तोष होता है, उस सन्तोष में मोह कारण है, अर्थात् वह तो मोहनिमित्तक है, वास्तविक नहीं है। यहाँ तो वस्तु-स्थिति का विचार किया जा रहा है। इसलिए अशुभनामकर्म के उक्त लक्षण में किसी प्रकार का दोष नहीं समझना चाहिये।

सुस्वर-दुःस्वर—जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर कर्णप्रिय हो, श्रोताओं को प्रीति का कारण होता है, उसे सुस्वरनामकर्म कहते हैं। उससे विपरीत दुःस्वरनामकर्म है कि जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर कर्णकटु, श्रोताओं को अप्रीति का कारण होता है।

सुभग-दुर्भग—जिस कर्म के उदय से उपकार नहीं करने पर भी जीव सबको मनःप्रिय होता है, वह सुभगनामकर्म है और उससे विपरीत दुर्भगनामकर्म जानना चाहिए कि जिस कर्म के उदय से उपकार करने पर भी अन्य जीवों को अप्रिय लगता है, द्वेष का पात्र होता है।

प्रश्न—तीर्थंकर भी अभव्यों के द्वेषपात्र होते हैं, तो क्या तीर्थंकरों को भी दुर्भगनामकर्म का उदय माना जाये?

उत्तर—नहीं। क्योंकि तीर्थंकर भी जो अभव्यों के द्वेषपात्र होते हैं, उसमें दुर्भगनामकर्म का उदय निमित्त नहीं है। किन्तु अभव्यों का हृदयगत मिथ्यात्व ही इसका कारण है।

आदेय-अनादेय—जिस कर्म के उदय से मनुष्य जो प्रवृत्ति करे, जिस किसी वचन को बोले, उसको लोक प्रमाण माने और उसके दिखने पर अभ्युत्थान आदि आदर-सत्कार करते हैं, वह आदेयनाम-कर्म है और उसके विपरीत अनादेयनामकर्म जानना चाहिये कि जिस कर्म के उदय से युक्ति-युक्त कथन करने पर भी लोग उसके वचन को मान्य न करें तथा उपकार आदि करने पर भी अभ्युत्थान आदि की प्रवृत्ति न करें।[1]

१ दिगम्बर कर्मसाहित्य में आदेय और अनादेय नामकर्म के लक्षण इस प्रकार बताये हैं— ——→

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति—तप, शौर्य, त्यागादि के द्वारा उपार्जन किये गये यश से जिसका कीर्तन किया जाये, प्रशंसा की जाये, उसे यशःकीर्ति कहते हैं। अथवा यश अर्थात् सामान्य से ख्याति और कीर्ति यानी गुणों के वर्णन रूप प्रशंसा, अथवा सर्व दिशा में फैलने वाली, पराक्रम से उत्पन्न हुई और सभी मनुष्यों द्वारा प्रशंसनीय जो कीर्ति, वह यश है और एक दिशा में फैलने वाली दान, पुण्य आदि से उत्पन्न हुई जो प्रशंसा वह कीर्ति है। वह यश और कीर्ति जिस कर्म के उदय से उत्पन्न हो उसे यशःकीर्तिनामकर्म कहते हैं। उससे विपरीत अयशःकीर्तिनामकर्म है कि जिस कर्म के उदय से मध्यस्थ मनुष्यों के द्वारा भी अप्रशंसनीय हो।

इस प्रकार सप्रतिपक्ष प्रत्येक बीस प्रकृतियों का स्वरूप जानना चाहिए। यहाँ पर जिस क्रम से सप्रतिपक्ष त्रसादि प्रकृतियों का कथन किया गया है, वह इन प्रकृतियों की संज्ञा आदि की द्विविधता को बतलाता है कि त्रसादि दस प्रकृतियां त्रसदशक कहलाती हैं और स्थावर आदि दस प्रकृतियों को स्थावरदशक कहते हैं। अन्यत्र भी जहाँ कहीं भी त्रसादि का ग्रहण किया जाये वहाँ यही त्रसादि दस प्रकृतियां समझना चाहिये और स्थावरादि दस का ग्रहण किया जाये तो वहाँ त्रसादि की प्रतिपक्ष स्थावरादि दस प्रकृतियां जानना चाहिए तथा त्रसादि दस और स्थावरादि दस प्रकृतियां दोनों यथाक्रम से परस्पर विरोधी हैं। जैसे कि त्रस के विरुद्ध स्थावर, बादर के विरुद्ध सूक्ष्म इत्यादि तथा त्रसचतुष्क, स्थावरचतुष्क, स्थिरषट्क, अस्थिरषट्क आदि संज्ञाओं में ग्रहण की गई प्रकृतियां उस प्रकृति से लेकर आगे की प्रकृतियों को उस संख्या की पूर्ति तक लेना चाहिए।

जिसके उदय से शरीर प्रभायुक्त हो वह आदेयनामकर्म है और जिसके उदय से शरीर में प्रभा न हो, उसे अनादेयनामकर्म कहते हैं—
प्रभोपेतशरीरकारणमादेयनाम। निष्प्रभशरीरकारणमनादेयनाम।
—दि. कर्मप्रकृति पृ. ४७,४९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार पिंडप्रकृति चौदह, अप्रतिपक्ष प्रत्येकप्रकृति आठ और सप्रतिपक्ष प्रत्येकप्रकृति बीस के क्रम से नामकर्म की बयालीस उत्तरप्रकृतियों का स्वरूप जानना चाहिये। अब पूर्वोक्त गति आदि चौदह पिंडप्रकृतियों में से उनके जितने जितने अवान्तर भेद होते हैं और उनका कुल योग कितना है, इसका प्रतिपादन करते हैं।

पिंडप्रकृतियों के अवान्तर भेदों की संख्या

गईयाईयाण भेया चउ पण पण ति पण पंच छ छक्कं।
पण दुग पणट्ठ चउ दुग पिंडुत्तरभेय पणसट्ठी ॥६॥

शब्दार्थ—**गईयाईयाण**—गति आदि के, **भेया**—भेद, **चउ**—चार, **पण**—पांच, **पण**—पांच, **ति**—तीन, **पण**—पांच, **पंच**—पांच, छ—छह, **छक्कं**—छह, **पण**—पांच, **दुग**—दो, **पणट्ठ**—पांच और आठ, **चउ**—चार, **दुग**—दो, **पिंडुत्तरभेय**—पिंडप्रकृतियों के उत्तर भेद, **पणसट्ठी**—पैंसठ।

गाथार्थ—गति आदि चौदह पिंडप्रकृतियों के उत्तरभेद अनुक्रम से चार, पांच, पांच, तीन, पांच, पांच, छह, छह, पांच, दो, पांच, आठ, चार और दो हैं। इन सबका योग पैंसठ होता है।

विशेषार्थ—चौदह पिंडप्रकृतियों के नाम गति आदि के क्रम से पूर्व में कहे जा चुके हैं। यहाँ उन्हीं के यथाक्रम चार से प्रारम्भ कर दो तक उत्तर भेदों की संख्या का निर्देश किया है। जो इस प्रकार है—

गतिनाम के चार भेद, जातिनाम के पांच भेद, शरीरनाम के पांच भेद, अंगोपांगनाम के तीन भेद, बंधननाम के पांच भेद, संघातननाम के पांच भेद, संहनननाम के छह भेद, संस्थाननाम के छह भेद, वर्णनाम के पांच भेद, गंधनाम के दो भेद, रसनाम के पांच भेद, स्पर्शनाम के आठ भेद, आनुपूर्वीनाम के चार भेद और विहायोगतिनाम के दो भेद होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन गति आदि पिंडप्रकृतियों में से बंधन और संघातन नामकर्म के भेदों के नामों को छोड़कर शेष सभी के उत्तरभेदों के नाम पहले गति आदि के स्वरूप कथन के प्रसंग में यथाक्रम से विस्तारपूर्वक कहे जा चुके हैं।

इन चौदह पिंडप्रकृतियों के सभी उत्तरभेद मिलकर पैंसठ होते हैं और प्रत्येकप्रकृतियां कुल मिलाकर अट्ठाईस हैं। इन पैंसठ और अट्ठाईस को जोड़ने पर नामकर्म की कुल उत्तरप्रकृतियां तेरानवै जानना चाहिये। लेकिन जो आचार्य बन्धननामकर्म के पांच भेदों की बजाय पन्द्रह भेद मानते हैं, उनके मत से नामकर्म की कुल प्रकृतियां एक सौ तीन समझना चाहिए।

इस प्रकार ज्ञानावरणादि आठों कर्मों की कुल मिलाकर एक सौ अड़तालीस अथवा नामकर्म की तेरानवै के बजाय एक सौ तीन प्रकृति मानने पर एक सौ अट्ठावन प्रकृतियां होती हैं। लेकिन कर्मप्ररूपणा के प्रसंग में बंध, उदय और सत्ता की अपेक्षा क्रमशः एक सौ बीस, एक सौ बाईस और एक सौ अड़तालीस अथवा एक सौ अट्ठावन प्रकृतियां मानी जाती हैं। अतः इसमें जो विवक्षा व कारण है, उसको बताते हैं—

ससरीरन्तरभूया बन्धनसंघायणा उ बंधुदए।
वण्णाइविगप्पावि हु बंधे नो सम्ममीसाइं ॥१०॥

शब्दार्थ—**ससरीरन्तरभूया**—स्वशरीर के अन्तर्भूत, **बंधन**—बंधन, **संघायणा**—संघातन, **उ**—और, **बंधुदए**—बंध और उदय में, **वण्णाइविगप्पावि**—वर्णादि के उत्तर भेद भी, **हु**—निश्चय ही, **बंधे**—बंध में, **नो**—नहीं, **सम्ममीसाइं**—सम्यक्त्व और मिश्र।

गाथार्थ—बंध और उदय में बंधन और संघातन की अपने-अपने शरीरनामकर्म के अन्तर्गत विवक्षा की जाती है तथा वर्णादि के उत्तर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भेद बंध और उदय में विवक्षित नहीं किये जाते हैं तथा सम्यक्त्वमोहनीय एवं मिश्रमोहनीय का बंध होता ही नहीं है। इसी कारण बंध, उदय और सत्ता की अपेक्षा प्रकृतियों की संख्या में अन्तर समझना चाहिये।

विशेषार्थ—गाथा में विवक्षाभेद के सामान्य सूत्र का संकेत किया है कि बंध और उदय का जब विचार किया जाता है, तब यह समझना चाहिये कि बंधननामकर्म के पांच भेदों की और संघातननामकर्म के पांच भेदों की अपने-अपने शरीर के अन्तर्गत विवक्षा की गई है। इसका कारण यह है कि यद्यपि पांचों बंधन और पांचों संघातन नामकर्मों का बंध होता है और उदय भी होता है, लेकिन जिस शरीरनामकर्म का बंध या उदय होता है, उसके साथ ही उस शरीरयोग्य बंधन और संघातन का अवश्य बंध और उदय होता ही है। जिससे बंध और उदय में उन दोनों की विवक्षा नहीं की जाती है किन्तु सत्ता में उन्हें पृथक्-पृथक् बतलाया है और वैसा बताना युक्तिसंगत भी है। जिसका कारण यह है—

यदि सत्ता में उनको पृथक्-पृथक् न बताया जाये तो मूल वस्तु के अस्तित्व का ही लोप हो जायेगा और उसके फलस्वरूप यह मानना पड़ेगा कि बंधन और संघातन नाम का कोई कर्म नहीं है। परन्तु यह मानना अभीष्ट नहीं है। इसीलिए सत्ता में उनको अलग-अलग बतलाया गया है।

अब यह बतलाते हैं किस-किस बंधन और संघातन की किस-किस शरीर के अन्तर्गत विवक्षा की गई है—

औदारिक बंधन और संघातन नामकर्म की औदारिकशरीरनामकर्म के अन्तर्गत, वैक्रिय बंधन और संघातन नामकर्म की वैक्रियशरीरनामकर्म के अन्तर्गत, आहारक बंधन और संघातन नामकर्म की आहारकशरीर नामकर्म के अन्तर्गत, तैजस बंधन और संघातन नामकर्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की तैजसशरीरनामकर्म के अन्तर्गत और कार्मण बंधन और संघातन नामकर्म की कार्मणशरीरनामकर्म के अन्तर्गत विवक्षा की जाती है।

इसी प्रकार वर्ण, गंध, रस और स्पर्श नामकर्म के अवान्तर पांच, दो, पांच और आठ उत्तर भेदों की बंध और उदय में विवक्षा नहीं करके सामान्य से चार ही गिने जाते हैं। क्योंकि इन बीस प्रकृतियों का साथ ही बंध और उदय होता, एक भी प्रकृति पूर्व या पश्चात् बंध या उदय में से कम नहीं होती है। जिससे इस प्रकार की विवक्षा की है तथा दर्शनमोहनीय की दो उत्तर प्रकृतियां—सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय को बंध में ग्रहण नहीं करते हैं। क्योंकि उनका बंध ही नहीं होता है। जिसका कारण यह है कि जैसे छाछ आदि औषधि-विशेष के द्वारा मदन कोद्रव (कोदों—एक प्रकार का धान्य, जिसके खाने से नशा होता है) शुद्ध करते है, उसी प्रकार आत्मा भी मदन कोद्रव जैसे मिथ्यात्व मोहनीयकर्म के दलिकों को औषधि के सामन सम्यक्त्व के अनुरूप विशुद्धि विशेष के द्वारा शुद्ध करके तीन भागों में बांट देती है—शुद्ध, अर्धविशुद्ध और अशुद्ध। उनमें से सम्यक्त्व रूप को प्राप्त हुए अर्थात् जो सम्यक्त्व की प्राप्ति में विघातक नहीं ऐसे शुद्ध पुद्‌गल सम्यक्त्वमोहनीय कहलाते हैं तथा अल्पशुद्धि को प्राप्त हुए अर्धविशुद्ध पुद्‌गलों को मिश्रमोहनीय कहा जाता है और जो किंचिन्मात्र भी शुद्धि को प्राप्त नहीं हुए, परन्तु मिथ्यात्वमोहनीय रूप में ही रहे हुए हैं, वे अशुद्ध कहलाते हैं। इस प्रकार सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय सम्यक्त्व गुण द्वारा सत्ता में रहे हुए मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के शुद्ध हुए पुद्‌गल होने से उनका बंध नहीं होता है, किन्तु मिथ्यात्व का ही बंध होता है। जिससे बंधविचार के प्रसंग में सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय के सिवाय मोहनीयकर्म की छब्बीस और पांच बंधन, पांच संघातन एवं वर्णादि सोलह के बिना नामकर्म की सड़सठ प्रकृतियां ग्रहण की जाती हैं। शेष कर्मों की प्रकृतियों में कोई अल्पाधिकता नहीं है। जिससे सभी प्रकृतियों को जोड़ने पर बंध में एक सौ बीस प्रकृतियां बंधयोग्य मानी जाती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदयविचार के प्रसंग में सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय का भी उदय होने से उनकी वृद्धि करने पर एक सौ बाईस प्रकृतियां उदययोग्य मानी जाती हैं।

सत्ता में जिनकी बंध और उदय में विवक्षा नहीं की गई है ऐसी बंधन की पांच, संघातन की पांच और वर्णादिचतुष्क के स्थान पर उनकी सभी बीस प्रकृतियों का ग्रहण होने से कुल एक सौ अड़तालीस उत्तरप्रकृतियां सत्तायोग्य मानी जाती हैं।[1]

इस प्रकार से बंध, उदय और सत्ता योग्य प्रकृतियों का विवेचन करने के पश्चात् अब यह स्पष्ट करते हैं कि बंधननामकर्म के पांच के बजाय पन्द्रह भेद किस प्रकार होते हैं और पन्द्रह भेद मानने में अन्य आचार्यों का क्या दृष्टिकोण है।

बंधननामकर्म के पन्द्रह भेद

वेउव्वाहारोरालियाण सग तेयकम्मजुत्ताणं।
नव बंधणाणि इयरदुजुत्ताणं तिण्णि तेसिं च ॥११॥

शब्दार्थ—**वेउव्वाहारोरालियाण**—वैक्रिय, आहारक और औदारिक का **सग**—स्व के साथ (अपने नाम वाले के साथ), **तेयकम्मजुत्ताणं**—तैजस और कार्मण के साथ जोड़ने पर, **नव**—नौ, **बंधणाणि**—बंधन, **इयरदुजुत्ताणं**—परस्पर दोनों के जोड़ने पर, **तिण्णि**—तीन, **तेसिं**—उनके, **च**—और।

---

१ श्रीमद् गर्गर्षि और शिवशर्मसूरि आदि के मतानुसार सत्तायोग्य एक सौ अट्ठावन प्रकृतियां मानने पर बन्धन के पन्द्रह भेदों की विवक्षा करना चाहिए। तब एक सौ अड़तालीस प्रकृतियों में जो बंधन के पांच भेदों का ग्रहण किया है, उनमें बंधन के शेष दस भेदों को मिलाने से कुल एक सौ अट्ठावन उत्तरप्रकृतियां हो जाती हैं।

दिगम्बर कर्मसाहित्य में सत्तायोग्य प्रकृतियां एक सौ अड़तालीस मानी हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथार्थ—अपने-अपने नाम के साथ, तैजस के साथ और कार्मण के साथ जोड़ने पर वैक्रिय, आहारक और औदारिक के नौ बंधन होते हैं। युगपत् तैजस और कार्मण के जोड़ने पर तीन बंधन और इन दोनों शरीर के तीन बंधन होते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर बंधननामकर्म के पन्द्रह भेद हैं।

विशेषार्थ—गाथा में बंधननामकर्म के पन्द्रह भेद बनाने की प्रक्रिया का निर्देश किया है—

अपने-अपने शरीरनाम के साथ, तैजस के साथ और कार्मण के साथ वैक्रिय, आहारक और औदारिक को जोड़ने पर बंधन के नौ भेद बनते हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं—

वैक्रिय-वैक्रियबंधन, वैक्रिय-तैजसबंधन, वैक्रिय-कार्मणबंधन, आहारक-आहारकबंधन, आहारक-तैजसबंधन, आहारक-कार्मणबंधन, औदारिक-औदारिकबंधन, औदारिक-तैजसबंधन, औदारिक-कार्मण-बंधन।

तैजस-कार्मण को युगपत् वैक्रिय आदि तीन शरीरों के साथ जोड़ने पर बंधन के तीन भेद इस प्रकार होते हैं—

वैक्रिय-तैजसकार्मणबंधन, आहारक-तैजसकार्मणबंधन, औदा-रिक-तैजसकार्मणबन्धन।

तैजस कार्मण का परस्पर सम्बन्ध करने पर बन्धन के तीन भेद इस प्रकार हैं—

तैजस-तैजसबंधन, तैजस-कार्मणबंधन और कार्मण-कार्मण-बन्धन।

इस प्रकार नौ, तीन, तीन को जोड़ने पर कुल मिलाकर बंधन के पन्द्रह भेद होते हैं। जिनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

१. पूर्वग्रहीत वैक्रिय शरीर पुद्गलों के साथ गृह्यमाण वैक्रिय-पुद्गलों का परस्पर जो सम्बन्ध होता है, वह वैक्रिय-वैक्रियबंधन है और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार का सम्बन्ध होने से हेतुभूत जो कर्म उसको वैक्रिय-वैक्रिय-बंधननामकर्म कहते हैं। इसी प्रत्येक बंधननामकर्म के लिए समझ लेना चाहिए।

२. पूर्वग्रहीत और गृह्यमाण वैक्रिय पुद्गलों का पूर्वग्रहीत और गृह्यमाण तैजस पुद्गलों के साथ जो बंधन होता है उसे वैक्रिय-तैजस-बंधन कहते हैं।

३. पूर्वग्रहीत और गृह्यमाण वैक्रिय पुद्गलों का पूर्वग्रहीत और गृह्यमाण कार्मण पुद्गलों के साथ जो सम्बन्ध होता है वह वैक्रिय-कार्मणबंधन कहलाता है।

४. पहले ग्रहण किये हुए आहारक पुद्गलों का और ग्रहण किये जा रहे आहारक पुद्गलों का जो सम्बन्ध होता है उसको आहारक-आहारकबंधन कहते हैं।

५. पूर्व में ग्रहण किये हुए और ग्रहण किये जा रहे आहारक पुद्गलों के साथ पूर्वग्रहीत और गृह्यमाण तैजसपुद्गलों का सम्बन्ध होता है, वह आहारक-तैजसबंधन कहलाता है।

६. पूर्वग्रहीत और गृह्यमाण आहारक पुद्गलों का पूर्व में ग्रहण किये हुए और ग्रहण किये जा रहे कार्मणपुद्गलों के साथ जो सम्बन्ध होता है, उसे आहारक-कार्मणबंधन कहते हैं।

७. पूर्वग्रहीत औदारिक पुद्गलों का ग्रहण किये जा रहे औदारिक पुद्गलों के साथ जो सम्बन्ध होता है, वह औदारिक-औदारिक-बंधन है।

८. पूर्वग्रहीत और गृह्यमाण औदारिक पुद्गलों का पूर्व में ग्रहण किये हुए और ग्रहण किये जा रहे तैजसपुद्गलों के साथ जो सम्बन्ध होता है उसे औदारिकतैजसबंधन कहते हैं।

९. पूर्वग्रहीत और गृह्यमाण औदारिक पुद्गलों का पहले ग्रहण किये हुए और ग्रहण किये जा रहे कार्मण पुद्गलों के साथ जो सम्बन्ध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है उसे औदारिककार्मणबंधन कहते हैं।

अ—१०. पूर्व में ग्रहण किये हुए और ग्रहण किये जा रहे वैक्रिय, तैजस और कार्मण इन तीनों के पुद्गलों का परस्पर जो सम्बन्ध होता है उसे वैक्रिय-तैजसकार्मणबंधन कहते हैं।

अ ११-१२. इसी प्रकार आहारक-तैजसकार्मणबंधन और औदारिकतैजसकार्मणबंधन का स्वरूप भी समझ लेना चाहिए।

पूर्वोक्त नौ बंधन भेदों के साथ इन तीनों बंधनों को जोड़ने पर बंधन के कुल बारह भेद कहे जा चुके हैं। अब शेष रहे तीन बंधनों के लक्षण बतलाते हैं—

व—१३. पूर्व में ग्रहण किए हुए तैजस पुद्गलों का ग्रहण किये जा रहे तैजस पुद्गलों के साथ परस्पर जो सम्बन्ध होता है, उसे तैजस-तैजसबंधन कहते हैं।

व—१४. पूर्वग्रहीत और गृह्यमाण तैजस पुद्गलों का पूर्व में ग्रहण किये हुए और ग्रहण किये जा रहे कार्मणपुद्गलों के साथ जो सम्बन्ध होता है उसे तैजसकार्मणबंधन कहते हैं।

१५ पूर्व में ग्रहण किये हुए कार्मणपुद्गलों का ग्रहण किये जा रहे कार्मणपुद्गलों के साथ जो परस्पर सम्बन्ध होता है, उसे कार्मण-कार्मणबंधन कहते हैं।

इन तीन बंधनों को पूर्वोक्त बारह बंधनभेदों के साथ जोड़ने पर कुल पन्द्रह बंधन होते हैं। अतः—

इस प्रकार बंधननामकर्म के पन्द्रह भेद मानने वाले आचार्यों के मतानुसार पन्द्रह बंधनों का स्वरूप जानना चाहिये।[1] परन्तु जो

---

१ दिगम्बर कर्मसाहित्य में बंधननामकर्म के पांच भेद माने हैं, संयोगी पन्द्रह भेद नहीं। लेकिन शरीरनाम के पांचों शरीर के संयोगी भेद पन्द्रह कहे हैं। उनके नाम तो यहाँ बताये गये बंधननामकर्म के पन्द्रह भेदों के नाम जैसे हैं, अन्तर यह है कि अंत में बंधननाम के बजाय शरीरनाम

—→

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य पन्द्रह बंधनों की विवक्षा नहीं करते हैं, उनके मतानुसार पांच बंधन और उनके समान वक्तव्य होने से पांच संघातनों का स्वरूप कहकर नामकर्म के भेदों का उपसंहार करते हैं—

ओरालियाइयाणं संघाया बंधणाणि य सजोगे ।
बंधसुभसंतउदया आसज्ज अणेगहा नामं ॥१२॥

शब्दार्थ—**ओरालियाइयाणं**—औदारिकादि शरीरों के, **संघाया**—संघातन, **बंधणाणि**—बंधन, **य**—और, **सजोगे**—अपने योग्य पुद्‌गलों के योग से, **बंध**—बंध, **सुभ**—शुभ, **संत**—सत्ता, **उदया**—उदय के, **आसज्ज**—आश्रय से, **अणेगहा**—अनेक प्रकार का, **नामं**—नामकर्म ।

गाथार्थ—औदारिकादि शरीरों के संघातन और बंधन अपने-अपने योग्य पुद्‌गलों के योग से होते हैं। बंध, शुभ, सत्ता और उदय के आश्रय से नामकर्म अनेक प्रकार का है।

विशेषार्थ—गाथा के पूर्वार्ध में पांच बंधन और पांच संघातन होने का कारण बतलाकर नामकर्म के अनेक प्रकार होने की अपेक्षाओं को बतलाया है। इनमें से पहले पांच बंधन और पांच संघातनों का स्वरूप बतलाते हैं—

औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण शरीरों का अपने योग्य पुद्‌गलों के साथ योग होने पर उनका संघात और बंध

का प्रयोग किया है। जैसे—औदारिक-औदारिकशरीरनामकर्म इत्यादि। ये भेद अपने-अपने शरीर, तैजस और कार्मण का संयोग करने पर बनते हैं—

तेजाकम्मेहिं तिए तेजा कम्मेण कम्मणा कम्मं ।
कय संजोगे चदु चदु, चदु दुग एक्कं च पयडीओ ॥
—दि. कर्मप्रकृति गा. ६९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है, लेकिन पर-पुद्गलों के साथ योग होने पर भी उनकी विवक्षा नहीं किये जाने से संघात या बंधन नहीं होता है। जिससे बंधन और संघात पांच-पांच ही होते हैं। जिसका आशय यह है कि यद्यपि औदारिकादि पुद्गलों का पर—तैजस आदि के पुद्गलों के साथ संयोग होता है, लेकिन संयोग होना मात्र ही बंध नहीं कहलाता है। क्योंकि संघात बिना बंधन नहीं होता है—'नासंहतस्य बंधनमिति।' इसलिए पर-पुद्गलों के साथ होने वाले संयोग की यहाँ विवक्षा नहीं करने से पांच ही बंधन और पांच ही संघातन माने जाते हैं।

प्रश्न—जो आचार्य पर-पुद्गलों के संयोगरूप बंधन के होते हुए भी उसकी विवक्षा न करके पांच बंधन मानते हैं, उनके मत से तो संघातन नामकर्म के पांच भेद सम्भव हैं, किन्तु बन्धन के पन्द्रह भेद मानने वाले आचार्यों के मत से 'संघातरहित का बंधन सम्भव नहीं होने' के न्याय के अनुसार संघातन के भी पन्द्रह भेद मानना चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार का पुद्गलों का पिंड हो, तदनुसार बंधन होता है। किन्तु ऐसा मानने पर पूर्वापर में विरोध हो जायेगा। क्योंकि कोई भी संघातन के पन्द्रह भेद नहीं मानते हैं। सभी पांच ही भेद मानते हैं।

उत्तर—यह कथन उपयुक्त नहीं है। क्योंकि उन्होंने संघातन का लक्षण ही अन्य प्रकार का किया है। संघातननामकर्म का लक्षण वे इस प्रकार का करते हैं—मात्र पुद्गलों की संहति-समूह होने में संघातननामकर्म हेतु नहीं हैं। क्योंकि समूह तो ग्रहणमात्र से ही सिद्ध है, जिससे मात्र संहति में हेतुभूत संघातनामकर्म मानने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु औदारिक आदि शरीरों की रचना के अनुकूल संघातविशेष—पिंडविशेष उन-उन पुद्गलों की रचनाविशेष होने में संघातनामकर्म निमित्त है और रचना तो औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस अथवा कार्मणवर्गणा के पुद्गलों की ही होती है। क्योंकि लोक में औदारिकादि शरीर योग्य पुद्गल हैं और उनके हेतुभूत औदारिकादि नामकर्म हैं। किन्तु औदारिक,- तैजसवर्गणा या औदारिक-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कार्मणवर्गणादि नहीं हैं, इसी प्रकार उनके हेतुभूत औदारिक-तैजस-नामकर्म आदि भी नहीं हैं, जिससे उस प्रकार की वर्गणाओं को ग्रहण करके रचना हो। परन्तु औदारिकवर्गणा है और उसका हेतुभूत औदारिकनामकर्म है। औदारिकादि नामकर्म के उदय से तत्तत् शरीर योग्य वर्गणाओं का ग्रहण और औदारिकादि संघातननामकर्म के उदय से औदारिकादि शरीर के योग्य रचना होती है और औदारिकादि बंधन-नामकर्म के उदय से उनका औदारिक आदि शरीरों के साथ सम्बन्ध होता है। यानी आत्मा जिस शरीरनामकर्म के उदय से जिन पुद्गलों को ग्रहण करती है, उन पुद्गलों की रचना उस शरीर का अनुसरण करके ही होती है, फिर चाहे सम्बन्ध किसी के भी साथ हो।[1] इसलिए संघातनामकर्म तो पांच प्रकार का ही है और अलग-अलग शरीरों के साथ सम्बन्ध होने से बंधन के पन्द्रह भेद हैं।

संघातननामकर्म के पांच भेदों के नाम इस प्रकार हैं—१. औदारिकसंघातन, २. वैक्रियसंघातन, ३. आहारकसंघातन, ४. तैजस-संघातन और ५. कार्मणसंघातन।

औदारिकशरीर की रचना के अनुकूल औदारिक पुद्गलों की संहति—रचना होने में निमित्तभूत जो कर्म, उसे औदारिकसंघातन-नामकर्म कहते हैं। इसी प्रकार शेष चार संघातननामकर्मों के अर्थ समझ लेना चाहिये।

---

१ उक्त कथन का आशय यह है कि अमुक प्रमाण में ही लम्बाई-मोटाई आदि निश्चित प्रमाणवाली औदारिकादि शरीर की रचना के लिये समूह विशेष की—औदारिकादि शरीर का अनुसरण करने वाली रचना की आवश्यकता है और उससे ही शरीर का तारतम्य होता है। इसलिये समूह-विशेष के कारणरूप में संघातननामकर्म अवश्य मानना चाहिये। यानी औदारिकादि नामकर्म के उदय से जो औदारिकादि पुद्गलों का ग्रहण किया जाता है, उनकी नियत प्रमाण वाली रचना होने में संघातनामकर्म कारण है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नामकर्म की पूर्व में जो तेरानवै प्रकृतियां बतलाई हैं, उनका बंध, शुभाशुभत्व आदि की अपेक्षा वर्गीकरण इस प्रकार करना चाहिये—

बंध एवं उदय की अपेक्षा तेरानवें प्रकृतियों में से वर्णादि सोलह, बंधनपंचक और संघातनपंचक इन छब्बीस प्रकृतियों को कम करने पर सड़सठ (६७) प्रकृतियों वाला है तथा शुभाशुभत्व की अपेक्षा वर्णादिचतुष्क के दो प्रकार हैं—शुभ और अशुभ। जिससे शुभ या अशुभ किन्हीं भी प्रकृतियों की संख्या में वर्णादिचतुष्क को जोड़ा जाता है तब सभी शुभ और अशुभ प्रकृतियां मिलकर (६७+४=७१) होती हैं और जब सत्ता का विचार किया जाता है तब वर्णादि बीस बंधनपंचक और संघातनपंचक इन सभी प्रकृतियों का ग्रहण होने से तेरानवै प्रकृतियां कही जाती हैं। इस प्रकार संख्याभेद की अपेक्षा नामकर्म अनेक प्रकार का है।

वर्णादिचतुष्क को शुभ और अशुभ दोनों वर्गों में ग्रहण करने पर जिज्ञासु यदि यह कहे कि जिस रूप में वर्णादिचतुष्क पुण्य हों, उसी रूप में पाप भी माने जायें तो यह कथन योग्य नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने में प्रत्यक्ष विरोध है, तो इसका समाधान यह है कि यह सामान्य से शुभाशुभत्व का संकेत किया है। लेकिन उत्तर प्रकृतियों की अपेक्षा उनमें से किन्हें शुभ और किन्हें अशुभ मानना चाहिये, उनके नाम इस प्रकार हैं—

नील कसीणं दुगंधं तित्तं कडुयं गुरुं खरं रुक्खं।
सीयं च असुभनवगं एगारसगं सुभं सेसं ॥१३॥

शब्दार्थ—**नील कसीण**—नील और कृष्ण, **दुगधं**—दुर्गन्ध, **तित्तं**—तिक्त, **कडुयं**—कटुक, **गुरुं**—गुरु, **खरं**—कर्कश, **रुक्खं**—रूक्ष, **सीयं**—शीत, **च**—और, **असुभनवगं**—अशुभनवक, **एगारसगं**—ग्यारह, **सुभं**—शुभ, **सेसं**—शेष।

गाथार्थ—(वर्णचतुष्क की पूर्वोक्त बीस प्रकृतियों में से) नील और कृष्ण ये दो वर्ण, दुर्गन्ध, तिक्त और कटु ये दो रस,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुरु, कर्कश, रूक्ष और शीत ये चार स्पर्श, कुल मिलाकर नौ प्रकृतियां अशुभनवक कहलाती हैं और शेष ग्यारह प्रकृतियां शुभ हैं।

विशेषार्थ—वर्ण, गंध, रस और स्पर्श के क्रमशः पांच, दो, पांच और आठ—कुल बीस भेद बतलाये जा चुके हैं। उनमें से जो प्रकृतियां शुभ और जो प्रकृतियां अशुभ हैं, इसको गाथा में स्पष्ट किया है। अशुभ और शुभ वर्ग में गृहीत प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

वर्णनामकर्म में नील और कृष्ण वर्ण, गंधनामकर्म में दुरभिगंध, रसनामकर्म के भेदों में तिक्त (तीखा, चरपरा) और कटुक (कड़वा) रस तथा स्पर्श नामकर्म में गुरु, कर्कश, रूक्ष और शीत स्पर्श ये अशुभ वर्णादिचतुष्क की नौ प्रकृतियां हैं। अर्थात् दो वर्ण, एक गंध, दो रस और चार स्पर्श के नाम मिलाने से वर्णचतुष्क की (२+१+२+४=९) नौ प्रकृतियां अशुभ समझना चाहिये।

वर्णचतुष्क की उक्त नौ अशुभ प्रकृतियों के सिवाय शेष रही ग्यारह प्रकृतियां शुभ हैं—'एगारसगं सुभं सेसं'। जिनकी संख्या और नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

शुभ वर्णनामकर्म—शुक्ल, पीत, रक्त वर्ण,

शुभ गंधनामकर्म—सुरभिगंध (सुगंध),

शुभ रसनामकर्म—मधुर, अम्ल, कषाय रस,

शुभ स्पर्शनामकर्म—लघु, मृदु, स्निग्ध, उष्ण स्पर्श।

इस प्रकार तीन वर्ण, एक गंध, तीन रस और चार स्पर्श के भेदों को मिलाने से (३+१+३+४=११) वर्णचतुष्क के ग्यारह भेद शुभ प्रकृतियों में माने जाते हैं।

इस प्रकार से ज्ञानावरणादि आठ कर्मों की उत्तरप्रकृतियों की संख्या और उनके नामों को जानना चाहिये। अब उन प्रकृतियों का जिन विविध संज्ञाओं की अपेक्षा वर्गीकरण किया गया है, उन संज्ञाओं के नाम बतलाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्गीकरण की संज्ञायें

धुवबंधिधुवोदय सव्वघाइ परियत्तमाण असुभाओ ।
पंच य सपडिवक्खा पगई य विवागओ चउहा ॥१४॥

शब्दार्थ—**धुवबंधि**—ध्रुवबंधी, **धुवोदय**—ध्रुवोदय, **सव्वघाइ**—सर्वघाति, **परियत्तमाण**—परावर्तमान, **असुभाओ**—अशुभ, **पंच**—पांच, **य**—और, **सपडिवक्खा**—सप्रतिपक्षा, **पगई**—प्रकृति, **य**—और, **विवागओ**—विपाक की अपेक्षा, **चउहा**—चार प्रकार ।

गाथार्थ—ज्ञानावरणादि की उक्त उत्तरप्रकृतियों के ध्रुवबंधी, ध्रुवोदय, सर्वघाति, परावर्तमान और अशुभ ये पांचों भेद प्रतिपक्ष सहित दस होते हैं और विपाक की अपेक्षा चार भेद हैं ।

विशेषार्थ—कर्मसिद्धान्त में जिन आपेक्षिक संज्ञाओं द्वारा ज्ञानावरणादि आठों कर्मों की उत्तरप्रकृतियों का वर्गीकरण किया गया है, उनमें से कतिपय नाम गाथा में बतलाये हैं और शेष के लिए संकेत किया है—

ध्रुवबंधिनी, ध्रुवोदया, सर्वघातिनी, परावर्तमाना और अशुभ और इन पांचों को अध्रुवबंधिनी आदि प्रतिपक्ष सहित करने पर दस भेद होते हैं तथा 'पंच य' इस पद में आगत 'य—च' शब्द द्वारा सप्रतिपक्ष सत्ता प्रकृतियां समझ लेना चाहिये तथा विपाक की अपेक्षा ये सभी प्रकृतियां चार प्रकार की हैं—पुद्गलविपाकिनी, भवविपाकिनी, क्षेत्रविपाकिनी और जीवविपाकिनी । इस प्रकार गाथा में कुल मिलाकर वर्गीकरण की सोलह संज्ञाओं के नाम बतलाये हैं । जिनके नाम इस प्रकार हैं—

१. ध्रुवबंधिनी, २. अध्रुवबंधिनी, ३. ध्रुवोदया, ४. अध्रुवोदया, ५. ध्रुवसत्ताका, ६. अध्रुवसत्ताका, ७. सर्वघातिनी, ८. देशघातिनी, ९. परावर्तमान, १०. अपरावर्तमान, ११. अशुभ, १२. शुभ, १३. पुद्गलविपाकिनी, १४. भवविपाकिनी, १५. क्षेत्रविपाकिनी और १६.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवविपाकिनी। इन सोलह वर्गों के अतिरिक्त अपेक्षा भेद से दूसरे भी जिन वर्गों में प्रकृतियों का वर्गीकरण किया है, उनके नाम और उनमें गृहीत प्रकृतियों के नाम कारणसहित यथास्थान आगे बताये जायेंगे।

इन ध्रुवबंधिनी आदि के लक्षण स्वयं ग्रन्थकार आगे कहने वाले हैं, लेकिन प्रासंगिक होने से यहाँ संक्षेप में उनके लक्षण बतलाते हैं।

बंधविच्छेद काल पर्यन्त प्रति समय प्रत्येक जीव को जिन प्रकृतियों का बंध होता है, उन्हें ध्रुवबंधिनी और बंधविच्छेद काल तक भी सर्वकालावस्थायी जिनका बंध न हो, उन्हें अध्रुवबंधिनी प्रकृति कहते हैं।

उदयविच्छेद काल पर्यन्त प्रत्येक समय जीव को जिन-जिन प्रकृतियों का विपाकोदय होता है वे ध्रुवोदया और उदयविच्छेद काल तक भी जिनके उदय का नियम न हो वे अध्रुवोदया प्रकृति कहलाती हैं।

अपने द्वारा घात किये जा सकें ऐसे ज्ञानादि गुणों का जो सर्वथा घात करती हैं वे प्रकृतियां सर्वघातिनी और उनकी प्रतिपक्षी प्रकृतियां देशघातिनी अथवा सर्वघाति प्रतिभागा सर्वघातिसदृश प्रकृति कहलाती हैं। यहाँ सर्वघाति की प्रतिपक्ष प्रकृतियों में देशघाति और अघाति इन दोनों का ग्रहण किया गया है। उनमें से अपने द्वारा घात किये जा सकें ऐसे ज्ञानादि गुणों के एकदेश का जो घात करें वे देशघातिनी और सर्वघातिनी प्रकृतियों के संसर्ग से जिन प्रकृतियों में सर्वघाति प्रकृतियों जैसा सादृश्य हो वे सर्वघातिप्रतिभागा कहलाती हैं। तात्पर्य यह है कि स्वयं स्वरूपतः अघाति होने से अपने में ज्ञानादि गुणों के आवृत करने की शक्ति न होने पर भी सर्वघाति प्रकृतियों के संसर्ग से अपना अति दारुण विपाक बतलाती हैं। वे सर्वघाति प्रकृतियों के साथ वेदन किये जाते हुए दारुण विपाक बतलाने वाली होने से उन प्रकृतियों के सादृश्य को प्राप्त करती हैं, जिससे वे सर्वघातिप्रतिभागा कहलाती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिन प्रकृतियों का बंध अथवा उदय अन्य बध्यमान या वेद्यमान प्रकृति के द्वारा प्रकाश के द्वारा अन्धकार की तरह निरुद्ध हो, रोका जाये वे परावर्तमान कहलाती हैं। अर्थात् जिस-जिस समय प्रतिपक्षी प्रकृतियों का बंध एवं उदय सम्भव हो, उस-उस समय जो अपने-अपने बंध और उदय आश्रयी परावर्तमानभाव को प्राप्त करें और पुनः यथायोग्य अपने बंध और उदय के हेतु मिलने पर बंध और उदय को प्राप्त हों। इस प्रकार बंध और उदय में परावर्तन होते रहने से वे परावर्तमाना प्रकृति कहलाती हैं और इनसे विपरीत प्रकृतियां अपरावर्तमाना हैं। अर्थात् जिनका बंध या उदय अथवा दोनों वेद्यमान या बध्यमान प्रकृतियों के द्वारा प्रतिपक्षी प्रकृतियों के नहीं होने से नहीं रुकता है वे अपरावर्तमाना प्रकृतियां हैं।

सारांश यह हुआ कि जो प्रकृतियां अन्य प्रकृतियों के बंध और उदय को रोके बिना ही अपना बंध उदय बताती हैं वे अपरावर्तमाना और जो प्रकृतियां अन्य प्रकृतियों के बंध, उदय अथवा बंधोदय इन दोनों को रोककर अपना बंध, उदय अथवा बंधोदय दोनों को बतलाती हैं, वे परावर्तमाना प्रकृति कहलाती हैं।

जिन प्रकृतियों का विपाक—फल शुभ न हो वे अशुभ-पाप और जिनका विपाक शुभ हो वे शुभ-पुण्य प्रकृतियां कहलाती हैं।

विच्छेदकाल से पूर्व तक जिन प्रकृतियों की प्रत्येक समय सभी जीवों में सत्ता पाई जाये वे ध्रुवसत्ताका और विच्छेदकाल से पहले भी जिनकी सत्ता का नियम न हो, वे अध्रुवसत्ताका प्रकृति कहलाती हैं।

जिन प्रकृतियों का पुद्गल, भव, क्षेत्र और जीव के माध्यम की मुख्यता से फल का अनुभव होता है, वे प्रकृतियां क्रमशः पुद्गलविपाकिनी, भवविपाकिनी, क्षेत्रविपाकिनी और जीवविपाकिनी कहलाती हैं।

इस प्रकार सामान्य से वर्गीकरण की संज्ञाओं का स्वरूप बतलाने के पश्चात् अब कारण सहित प्रत्येक वर्ग में ग्रहण की गई प्रकृतियों के नाम बतलाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्रुव-अध्रुव बंधिनी प्रकृतियां

नाणंतरायदंसण धुवबंधि कसायमिच्छभयकुच्छा ।
अगुरुलघु निमिण तेयं उवघायं वण्णचउकम्मं ॥१५॥

शब्दार्थ—**नाणंतरायदंसण**—ज्ञानावरण, अन्तराय और दर्शनावरण, **धुवबंधि**—ध्रुवबंधिनी, **कसायमिच्छभयकुच्छा**—कषाय, मिथ्यात्व, भय और जुगुप्सा, **अगुरुलघु**—अगुरुलघु, **निमिण**—निर्माण, **तेयं**—तैजस, **उवघायं**—उपघात, **वण्णचउ**—वर्णचतुष्क, **कम्मं**—कार्मणशरीर ।

गाथार्थ—ज्ञानावरण, अन्तराय और दर्शनावरण की प्रकृतियां, कषाय, मिथ्यात्व, भय, जुगुप्सा, अगुरुलघु, निर्माण, तैजस, उपघात, वर्णचतुष्क और कार्मणशरीर ये ध्रुवबंधिनी प्रकृतियां हैं ।

विशेषार्थ—ध्रुवबंधित्व, अध्रुवबंधित्व का विचार बंधयोग्य प्रकृतियों की अपेक्षा ही किया जाता है । बंधयोग्य प्रकृतियां एक सौ बीस हैं । उनमें से ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के नाम यहाँ बतलाये हैं । इस प्रसंग में कुछ एक प्रकृतियों का तो सामान्य से निर्देश किया है और कुछ एक के पृथक्-पृथक् नाम बतलाये हैं । सामान्य से जिन प्रकृतियों का नामनिर्देश किया गया है, वे हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और कषाय । अर्थात् इनमें अन्तर्भूत सभी प्रकृतियां—ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणनवक, अन्तरायपंचक और सोलह कषाय[1] तथा इनके अलावा मिथ्यात्व, भय और जुगुप्सा कुल मिलाकर घातिकर्म की अड़तीस प्रकृतियां तथा अगुरुलघु, निर्माण, तैजसशरीर, उपघात, वर्णचतुष्क और कार्मणशरीररूप नामकर्म की नौ प्रकृतियां[2],

---

१ अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन क्रोधादि चतुष्क ।

२ आगे जहाँ कहीं भी नामकर्म की ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के ग्रहण करने का संकेत आये वहाँ इन नौ प्रकृतियों को ग्रहण किया गया समझना चाहिये ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार घातिकर्म की अड़तीस और नामकर्म की नौ प्रकृतियों को मिलाने पर कुल सैंतालीस प्रकृतियां ध्रुवबंधिनी मानी जाती हैं।

अब इन प्रकृतियों को ध्रुवबंधिनी मानने के कारण को स्पष्ट करते हैं—

ज्ञानावरणादि अष्टकर्मों में मोहनीयकर्म प्रधान है और उसमें भी मिथ्यात्वमोहनीय प्रमुख है। अतः सर्वप्रथम उसी के ध्रुवबन्धी मानने के कारण को बतलाते हैं कि मिथ्यादृष्टिगुणस्थान पर्यन्त मिथ्यात्व-मोहनीय का निरन्तर बंध होता है अर्थात् जहाँ तक मिथ्यात्वमोहनीय का वेदन किया जाता है, वहीं तक उसका निरन्तर बंध होता रहता है और उसके पश्चात् मिथ्यात्व का उदयरूप हेतु का अभाव होने से बंध भी नहीं होता है। क्योंकि शास्त्र में कहा गया है—'जे वेयइ से बज्झइ' अर्थात् जब तक उदय है तब तक बंध होता रहता है। पहले मिथ्यादृष्टिगुणस्थान से परे (आगे) किसी भी गुणस्थान में मिथ्यात्व का उदयाभाव होने से दूसरे, तीसरे आदि ऊपर के गुणस्थान में उसका बंध नहीं होता है।

अनन्तानुबंधिचतुष्क— अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ और स्त्यानर्द्धित्रिक—निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला और स्त्यानर्द्धि ये सात प्रकृतियां दूसरे सासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थान तक निरन्तर बंधती रहती हैं। उससे आगे के गुणस्थानों में अनन्तानुबंधी कषायों का उदय-विच्छेद हो जाने से तत्सापेक्ष बंधयोग्य ये सात प्रकृतियां भी नहीं बंधती हैं।

अप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क चौथे अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान पर्यन्त बंधती हैं और उससे आगे के गुणस्थानों में इनके उदय का अभाव होने से नहीं बंधती हैं और प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क देश-विरतगुणस्थान पर्यन्त बंधती हैं। क्योंकि अनन्तानुबंधिचतुष्क आदि बारह कषायों के लिए यह नियम है कि जहाँ अर्थात् जिस-जिस गुण-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थान तक उनका उदय हो वहाँ तक ही तज्जन्य आत्मपरिणामों के द्वारा वे बंधती हैं।

निद्रा और प्रचला, ये दर्शनावरण की दो प्रकृतियां अपूर्वकरण-गुणस्थान के प्रथम समय तक निरन्तर बंधती रहती हैं और इसके बाद उनके बंधयोग्य परिणाम संभव न होने से बंधती नहीं हैं। इसी प्रकार अगुरुलघु आदि नामकर्म की नौ ध्रुवबंधिनी प्रकृतियां अपूर्वकरणगुण-स्थान के छठे भाग पर्यंत और भय, जुगुप्सा चरम समय तक, संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ नौवें अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थान पर्यन्त निरन्तर बंधती हैं किन्तु आगे के गुणस्थानों में बादर कषायों के उदय का अभाव होने से बंध नहीं होता है। क्योंकि इनका बंध बादर कषायोदय-सापेक्ष है।

मतिज्ञानावरण आदि ज्ञानावरणपंचक, दानान्तराय आदि अंतराय-पंचक और चक्षुदर्शनावरण आदि दर्शनावरणचतुष्क कुल मिलाकर ये चौदह प्रकृतियां दसवें सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के चरम समय तक निरन्तर बंधती हैं और तत्पश्चात् आगे के गुणस्थानों में उनके बंध की हेतुभूत कषायों का उदय नहीं होने से उनका बंध भी नहीं होता है।

इस प्रकार से सैंतालीस प्रकृतियां ध्रुवबंधिनी जानना चाहिए। इनसे शेष रही तिहत्तर प्रकृतियां अध्रुवबंधिनी हैं। क्योंकि जो प्रकृतियां अपने-अपने बंधकारणों के संभव होने पर भी भजनीयबंध वाली हैं अर्थात् जिनका कभी बंध होता है और कभी बंध नहीं होता है, वे प्रकृतियां अध्रुवबंधिनी कहलाती हैं। तिहत्तर प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

गतिचतुष्क, आनुपूर्वीचतुष्क, जातिपंचक, विहायोगतिद्विक, संस्थान-षट्क, संहननषट्क, वैक्रियद्विक, आहारकद्विक, औदारिकद्विक, त्रसदशक, स्थावरदशक, तीर्थंकरनाम, आतप, उद्योत, पराघात, उच्छ्वास, साता-असातावेदनीय, उच्च-नीचगोत्र, हास्यचतुष्क—हास्य, रति, शोक,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अरति, वेदत्रिक, आयुचतुष्क ।[1] ये तिहत्तर प्रकृतियां अपने-अपने बंध के सामान्य कारणों के होने पर भी परस्पर विरोधी होने से प्रतिसमय नहीं बंधती हैं किन्तु अमुक-अमुक भवादि योग्य प्रकृतियों का बंध होने पर बंधती हैं। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

पराघात और उच्छ्वास नामकर्म का अविरति आदि अपने बंध-कारण होने पर भी अपर्याप्तप्रायोग्य प्रकृतियों के बंधकाल में बंध नहीं होता है और पर्याप्तप्रायोग्य प्रकृतियों के बंधकाल में ही बंध होता है। आतपनामकर्म का एकेन्द्रियप्रायोग्य प्रकृतियों का बंध होने पर तथा उद्योतनामकर्म का तिर्यंचगतिप्रायोग्य प्रकृतियों का बंध होने पर ही बंध होता है। तीर्थंकर नाम का सम्यक्त्व रूप बंधकारण के विद्यमान रहने पर भी कदाचित् ही बंध होता है। इसी तरह आहारकद्विक का संयम रूप निज बंधहेतु के विद्यमान रहते भी कदाचित् ही बंध होता है और शेष औदारिकद्विक आदि प्रकृतियों का भी सविपक्ष प्रकृति के होने से ही कदाचित् बंध होता है और कदाचित् बंध नहीं होता है।

---

१ दिगम्बर कर्मसाहित्य में इन्हीं तिहत्तर प्रकृतियों को अध्रुवबंधिनी बताया है। लेकिन निष्प्रतिपक्ष और सप्रतिपक्ष ऐसे दो भेद किये हैं और उनमें गर्भित प्रकृतियां इस प्रकार हैं—

निष्प्रतिपक्ष—परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, चारों आयु, तीर्थंकर और आहारकद्विक, ये ग्यारह प्रकृतियां निष्प्रतिपक्ष अध्रुव-बंधिनी हैं।

सप्रतिपक्ष—वेदनीयद्विक, वेदत्रिक, हास्यचतुष्क, जातिपंचक, संस्थानषट्क, संहननषट्क, आनुपूर्वीचतुष्क, गतिचतुष्क, औदारिकद्विक, वैक्रियद्विक, गोत्रद्विक, त्रसदशक, स्थावरदशक, विहायोगतिद्विक, ये बासठ प्रकृतियां सप्रतिपक्ष अध्रुवबंधिनी हैं।

—दि. पंचसंग्रह ४।२३८-४०

—गो. कर्मकांड १२५-२७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन सब कारणों से ये तिहत्तार प्रकृतियां अध्रुवबंधिनी मानी जाती हैं।

सैंतालीस और तिहत्तार प्रकृतियों को क्रमशः ध्रुवबंधिनी और अध्रुवबंधिनी मानने में मुख्य दृष्टि यह है कि विशेष-विशेष हेतुओं के विद्यमान रहने पर बंध होना या न होना ध्रुवबंधित्व और अध्रुवबंधित्व का कारण नहीं है किन्तु सभी कर्मों के मिथ्यात्व आदि सामान्य बंधहेतुओं के सद्भाव में अवश्य ही बंध होना ध्रुवबंधित्व है और इसके विपरीत अवस्था में अर्थात् सामान्य बंधकारणों के रहते हुए भी बंध नहीं होना अध्रुवबंधित्व है।

इस प्रकार सप्रतिपक्ष (अध्रुवबंधिनी सहित) ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों का विवेचन करने के पश्चात् अब क्रमप्राप्त ध्रुवाध्रुवोदया प्रकृतियों को बतलाते हैं।

ध्रुवाध्रुवोदया प्रकृतियां

निम्माणथिराथिरतेयकम्मवण्णाइ अगुरुसुहमसुहं ।
नाणंतरायदसगं दंसणचउ मिच्छ निच्चुदया ॥१६॥

शब्दार्थ—**निम्माण**—निर्माण, **थिराथिर**—स्थिर, अस्थिर, **तेय**—तैजस, **कम्म**—कार्मण, **वण्णाइ**—वर्णादिचतुष्क, **अगुरुसुहमसुहं**—अगुरुलघु, शुभ, अशुभ, **नाणंतरायदसगं**—ज्ञानावरण-अन्तरायदशक, **दंसणचउ**—दर्शनावरण-चतुष्क, **मिच्छ**—मिथ्यात्व, **निच्चुदया**—नित्योदया, ध्रुवोदया।

गाथार्थ—निर्माण, स्थिर, अस्थिर, तैजस कार्मण, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, शुभ, अशुभ, ज्ञानावरणपंचक, अन्तरायपंचक कुल दस प्रकृतियां एवं दर्शनावरणचतुष्क और मिथ्यात्व ये ध्रुवोदया प्रकृतियां हैं।

विशेषार्थ—गाथा में सत्ताईस ध्रुवोदया प्रकृतियों के नाम गिनाये हैं। इनमें से निर्माण से लेकर अशुभ नाम तक बारह प्रकृतियां

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नामकर्म की हैं[1] और शेष पन्द्रह घाति प्रकृतियां हैं। ये प्रकृतियां ध्रुवोदया इसलिए कहलाती हैं कि उदयकाल के विच्छेद होने से पहले तक इनका निरन्तर उदय रहता है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

मिथ्यात्व प्रकृति पहले मिथ्यादृष्टिगुणस्थान तक ध्रुवोदय वाली है। आगे उदयविच्छेद हो जाने से दूसरे आदि गुणस्थानों में इसका उदय नहीं रहता है तथा शेष मतिज्ञानावरण आदि केवलदर्शनावरण पर्यन्त चौदह घाति प्रकृतियां बारहवें क्षीणमोहगुणस्थान के अन्तिम समय तक ध्रुवरूप से उदय में रहती हैं, जिससे वे ध्रुवोदया कहलाती हैं।

निर्माण आदि अशुभ नाम पर्यन्त नामकर्म की बारह प्रकृतियां तेरहवें सयोगिकेवलीगुणस्थान के चरम समय तक उदय में रहने और तत्पश्चात् उदयविच्छेद हो जाने से ध्रुवोदया कहलाती हैं।

उक्त सत्ताईस प्रकृतियों के अतिरिक्त उदययोग्य एक सौ बाईस प्रकृतियों में से शेष रहीं पंचानवै प्रकृतियां अध्रुवोदया हैं। जिनके नाम हैं—स्थिर, अस्थिर, शुभ और अशुभ इन चार के बिना शेष उनत्तार अध्रुवबंधिनी प्रकृतियां, मिथ्यात्व के बिना मोहनीय की ध्रुवबंधिनी अठारह प्रकृतियां, पांच निद्रायें, उपघातनाम, मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय। इनके अध्रुवोदया होने का कारण यह है कि गतिनाम आदि अनेक प्रकृतियां परस्पर विरोधी हैं और तीर्थंकर आदि कितनी ही प्रकृतियों का सर्वदा उदय होता नहीं है। इसीलिये पंचानवै प्रकृतियां अध्रुवोदया मानी जाती हैं।

इस प्रकार ध्रुव-अध्रुव की अपेक्षा उदय प्रकृतियों का विचार करने के पश्चात् सर्वघाति, देशघाति प्रकृतियों को बतलाते हैं।

---

१ जहाँ कहीं भी ध्रुवोदया नामकर्म की प्रकृतियों का उल्लेख हो वहां इन बारह प्रकृतियों का ग्रहण करना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वघाति देशघाति प्रकृतियां

केवलियनाणदंसण आवरणं बारसाइमकसाया ।
मिच्छत्तं निद्दाओ इय वीसं सव्वघाईओ ॥१७॥

शब्दार्थ—**केवलियनाणदंसण आवरणं**—केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण, **बारसाइमकषाया**—आदि की बारह कषाय, **मिच्छत्तं**—मिथ्यात्व, **निद्दाओ**—(पांच) निद्रायें, **इय**—यह, **वीसं**—बीस, **सव्वघाईयो**—सर्वघाति ।

गाथार्थ—केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण, आदि की बारह कषाय, मिथ्यात्व और निद्रापंचक ये बीस प्रकृतियां सर्वघाति हैं ।

विशेषार्थ—ज्ञानावरण आदि आठ मूल कर्म घाति और अघाति के भेद से दो प्रकार के हैं । ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म घाति हैं । अतः इनकी उत्तर प्रकृतियां भी घाति मानी जायेंगी । क्योंकि ये साक्षात आत्मगुणों का घात करती हैं, उनको आच्छादित करके आत्मशक्ति का विकास नहीं होने देतीं और इनसे शेष रहे वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र ये चार कर्म और इनकी उत्तर प्रकृतियां अघाति हैं । क्योंकि ये साक्षात आत्मगुणों का तो घात नहीं करती हैं किन्तु घातिकर्मों को आत्मगुणों का घात करने में सहायक बनती हैं । घातिप्रकृतियों में भी कुछ ऐसी हैं जो आत्मा के परम रूप को प्रगट नहीं होने देती हैं और कुछ ऐसी हैं जो उसके स्वाभाविक गुणों को आंशिक रूप में घात करती हैं । परम रूप में घातक सर्वघातिनी और आंशिक रूप में घात करने वाली देशघातिनी कहलाती हैं । इन दोनों प्रकारों में से गाथा में सर्वघातिनी बीस प्रकृतियों के नाम बताये हैं—केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण, अनन्तानुबंधिकषायचतुष्क, मिथ्यात्व, निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला और स्त्यानर्द्धि । इनके अतिरिक्त शेष रही घातिप्रकृतियों में से मतिज्ञाना-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वरणादि पच्चीस प्रकृतियां देशघाति[1] तथा वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु इन चार कर्मों की सभी उत्तर प्रकृतियां अघाति हैं।

अब आचार्यप्रवर घातिकर्म की प्रकृतियों को सर्व-देशघातिनी मानने के कारण को बतलाते हैं—

सम्मत्तनाणदंसणचरित्तघाइत्तणा उ घाईओ ।
तस्सेस देसघाइत्तणा उ पुण देसघाईओ ॥१८॥

शब्दार्थ—**सम्मत्त**—सम्यक्त्व, **नाण**—ज्ञान, **दंसण**—दर्शन, **चरित्त**—चारित्र, **घाइत्तणा**—घात करने से, **उ**—और, **घाईओ**—घाति, **तस्सेस**—उनमे शेष रही, **देसघाइत्तणा**—देश का घात करने से, **उ**—और, **पुण**—पुनः, **देसघाईओ**—देशघाति।

गाथार्थ—सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन और चारित्र का सर्वथा घात करने वाली होने से पूर्वोक्त केवलज्ञानावरण आदि बीस प्रकृतियां सर्वघाति हैं और उनसे शेष रही प्रकृतियां ज्ञानादि गुणों के देश का घात करने से देशघाति कहलाती हैं।

विशेषार्थ—गाथा में घाति प्रकृतियों के सर्वघातित्व और देशघातित्व के भेद के कारण को बतलाया है। सर्वप्रथम केवलज्ञानावरण आदि पूर्वोक्त बीस प्रकृतियों को सर्वघाति मानने के हेतु का संकेत किया है—

---

१ यहाँ सर्वघाति और देशघाति प्रकृतियों की संख्या क्रमशः जो बीस और पच्चीस बतलाई है वह बंधापेक्षा समझना चाहिये। क्योंकि मिथ्यात्व का बंध होने से बंधयोग्य प्रकृतियों में मोहनीयकर्म की उत्तरप्रकृतियां छब्बीस ग्रहण की जाती हैं। लेकिन उदयापेक्षा सर्वघातित्व और देशघातित्व का विचार किया जाये तो सम्यक्त्वमोहनीय देशघाति और मिश्रमोहनीय सर्वघाति होने से सर्वघाति इक्कीस और देशघाति छब्बीस प्रकृतियां मानी जायेंगी। दिगम्बर कर्मसाहित्य में उदयापेक्षा सर्वघाति देशघाति प्रकृतियों की संख्या क्रमशः इक्कीस और छब्बीस बताई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केवलज्ञानावरण आदि बीस प्रकृतियां यथायोग्य रीति से अपने द्वारा जिन गुणों का घात हो सकता है उन सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन और चारित्र गुण को सर्वात्मना घात करती हैं। वह इस प्रकार से समझना चाहिये कि मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधिकषायचतुष्क सम्यक्त्व गुण का सर्वथा घात करती हैं। क्योंकि इनका उदय रहने तक औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में से कोई भी सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होता है। केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण अनुक्रम से केवलज्ञान और केवलदर्शन को पूर्णरूप से आवृत करते हैं। पांच निद्रायें दर्शनावरणकर्म के क्षयोपशम से प्राप्त दर्शनलब्धि को सर्वथा आच्छादित करती हैं। अप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क का उदय रहते एकदेश चारित्र, व्रत, प्रत्याख्यान ग्रहण नहीं किये जा सकते हैं और प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क सर्वविरति रूप चारित्र का सर्वथा घात करती हैं। इसीलिए ये मिथ्यात्व आदि सभी बीस प्रकृतियां सम्यक्त्व आदि गुणों का सर्वथा घात करने वाली होने से सर्वघाति कहलाती हैं तथा उक्त बीस प्रकृतियों के सिवाय शेष रही चार घाति कर्मों की मतिज्ञानावरण आदि पच्चीस प्रकृतियां अपने-अपने विषय-भूत ज्ञानादि गुणों के एकदेश का घात करने वाली होने से देशघाति कहलाती हैं।

उपर्युक्त समग्र कथन का सारांश यह है—

यद्यपि केवलज्ञानावरणकर्म आत्मा के ज्ञानगुण को सम्पूर्ण रूप से घात करने—आच्छादित करने के लिए प्रवृत्त होता है तथापि उसके द्वारा उक्त गुण समूल घात (नष्ट) नहीं किया जा सकता है। यदि पूर्णरूप से घात कर दे तो जीव अजीव हो जाये और उससे जड़-चेतन के बीच अन्तर ही न रहे। जैसे सूर्य और चन्द्र की किरणों का आवरण करने के लिये प्रवर्तमान विशाल गाढ़ घनपटल के द्वारा उनकी प्रभा पूर्णरूप से आच्छादित नहीं की जा सकती है। यदि ऐसा न माना जाये तो लोकप्रसिद्ध दिन-रात के विभाग का ही अभाव हो जायेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी प्रकार केवलज्ञानावरणकर्म के द्वारा केवलज्ञान का सम्पूर्ण रूप से आवरण किये जाने पर भी तत्सम्बन्धी जो कुछ भी मन्द, विशिष्ट और विशिष्टतर प्रकाशरूप मतिज्ञान आदि संज्ञा वाला ज्ञान का एकदेश विद्यमान रहता है, उस एकदेश को यथायोग्य रीति से मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण और मनपर्यायज्ञानावरण कर्म घातते हैं। इसलिये ये देशघातिकर्म हैं।

इसी प्रकार केवलदर्शनावरणकर्म के द्वारा केवलदर्शन को सम्पूर्ण रूप से आवृत करने पर भी तद्गत मन्द, मन्दतम, विशिष्ट और विशिष्टतर आदि रूप वाली जो प्रभा है और जिसकी चक्षुदर्शन आदि संज्ञा है, उसे यथायोग्य रीति से चक्षु, अचक्षु और अवधिदर्शनावरणकर्म आवृत करते हैं। इसलिए दर्शनगुण के एकदेश का घात करने से ये देशघातिकर्म कहलाते हैं।

यद्यपि निद्रादिक पांच प्रकृतियां केवलदर्शनावरणकर्म द्वारा अनावृत केवलदर्शन सम्बन्धी प्रभारूप दर्शन के एकदेश को आवृत करती हैं, तथापि दर्शनावरणकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुई दर्शनलब्धि का समूल घात करती हैं, इसीलिये उन्हें सर्वघातिनी कहा गया है।

संज्वलनकषायचतुष्क और नवनोकषायें अनन्तानुबंधिकषायचतुष्क आदि बारह कषायों के क्षयोपशम से उत्पन्न हुई चारित्रलब्धि का एकदेश से घात करती हैं, इसलिये वे देशघातिनी प्रकृतियां हैं। क्योंकि वे मात्र अतिचार उत्पन्न करती हैं। अर्थात् जिनका उदय सम्यक्त्व आदि गुणों का विनाश करता है, वे सर्वघातिनी कहलाती हैं और जो कषायें मात्र अतिचारों की जनक हैं, अतिचारों को उत्पन्न करना ही जिनका कार्य है उन्हें देशघातिनी कहा जाता है। जैसा कि कहा है—

सव्वे वि य अइयारा संजलणाणं तु उदयओ होंति।
मूलच्छेज्जं पुण होइ बारसण्हं कसायाणं॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् चारित्र में सभी अतिचार संज्वलनकषायों के उदय से होते हैं और आदि की बारह कषायों के उदय से चारित्र का मूल से नाश होता है। सारांश यह हुआ कि घातिकर्मों के क्षयोपशम से जीव को जो चारित्र उत्पन्न होता है, उसके एकदेश को संज्वलनकषायचतुष्क और नोकषायनवक घात करती हैं। इसीलिए संज्वलनकषायचतुष्क और नोकषायें देशघातिनी प्रकृतियां हैं।

इस संसार में ग्रहण, धारण आदि के योग्य जिस वस्तु को जीव न दे सके, न प्राप्त कर सके अथवा भोगोपभोग न कर सके और न सामर्थ्य को प्राप्त कर सके वह दानान्तराय आदि पांच अन्तराय कर्म-प्रकृतियों का विषय है और यह दान, लाभ सर्व द्रव्यों का अनन्तवां भाग ही एक जीव को प्राप्त होता है। इसलिये तद्विषयक दानादि का विघात करने वाली होने से दानान्तराय आदि अन्तरायकर्म की प्रकृतियां देशघातिनो कहलाती हैं। अर्थात् जैसे ज्ञान के एकदेश को आवृत करने वाली होने से मतिज्ञानावरणादि प्रकृतियां देशघाति हैं, उसी प्रकार सर्व द्रव्य के एकदेशविषयक दानादि का विघात करने वाली होने से दानान्तराय आदि अंतरायकर्म की पांचों प्रकृतियां भी देशघातिनी हैं तथा गाथा में आगत 'तु' शब्द अधिक अर्थ का सूचक होने से यह आशय लेना चाहिए कि नाम, गोत्र, वेदनीय और आयु कर्म एवं उनकी सभी उत्तरप्रकृतियां अपने द्वारा घात करने योग्य कोई गुण नहीं होने से किसी गुण का घात नहीं करती हैं। इसीलिये उन्हें अघाति जानना चाहिए।

इस प्रकार से सर्वघातिनी प्रकृतियों के सर्वघातित्व के कारण को जानना चाहिए। यद्यपि इसी प्रसंग में देशघातिनी प्रकृतियों के नाम और उनको देशघाति मानने के कारण का भी निर्देश कर दिया है, तथापि सरलता से बोध कराने के लिए ग्रन्थकार आचार्य उनके नामों का कथन करते हैं—

Jain Education International　　For Private & Personal Use Only　　www.jainelibrary.org

नाणावरणचउक्कं दंसणतिग नोकसाय विग्घपणं ।
संजलण देसघाई तइय विगप्पो इमो अन्नो ॥१६॥

शब्दार्थ—**नाणावरणचउक्कं**—ज्ञानावरणचतुष्क, **दंसणतिग**—दर्शनावरणत्रिक, **नोकसाय**—नोकषाय, **विग्घपणं**—अन्तरायपंचक, **संजलण**—संज्वलन कषायचतुष्क, **देसघाई**—देशघाति, **तइय**—तीसरा, **विगप्पो**—विकल्प, **इमो**—यह, **अन्नो**—अन्य दूसरा ।

गाथार्थ—ज्ञानावरणचतुष्क, दर्शनावरणत्रिक, नोकषायनवक, अन्तरायपंचक संज्वलनचतुष्क, ये देशघाति हैं। घातिप्रकृतियों में यह तीसरा विकल्प है।

विशेषार्थ—ग्रन्थकार आचार्य ने गाथा में देशघाति प्रकृतियों के नाम बतलाकर इनको घाति प्रकृतियों का एक विशेष भेद मानने का निर्देश किया है।

'नाणावरणचउक्कं' अर्थात् ज्ञानावरण के पांच भेदों में से केवलज्ञानावरण को छोड़कर शेष रहे मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनपर्यायज्ञानावरण रूप ज्ञानावरणचतुष्क, चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण और अवधिदर्शनावरण रूप 'दंसणतिग' दर्शनत्रिक, तीन वेद और हास्यादिषट्क रूप नवनोकषाय, दानान्तराय लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय रूप अन्तरायपंचक तथा संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ रूप संज्वलनचतुष्क कुल मिलाकर पच्चीस प्रकृतियां देशघाति हैं और इनके देशघाति होने के कारण को पूर्व में सर्वघाति प्रकृतियों के विवेचन के प्रसंग में स्पष्ट किया जा चुका है।

सर्वघाति और अघाति प्रकृतियों के विचार प्रसंग में 'तइय विगप्पो इमो अन्नो'—देशघाति रूप यह एक तीसरा विशेष विकल्प है। अर्थात् घाति और उसका प्रतिपक्षी अघाति यही दो मुख्य हैं और सामान्य से घातिवर्ग की सभी प्रकृतियां आत्मगुणों का घात करने वाली होने से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

घाति हैं, लेकिन उनकी घातिशक्ति की विशेषता बतलाने की अपेक्षा यह देशघाति रूप एक उपविभाग समझना चाहिए।

इस प्रकार से घाति, अघाति और देशघाति प्रकृतियों का विचार करने के पश्चात् अब परावर्तमान और अपरावर्तमान प्रकृतियों को बतलाते हैं।

परावर्तमान-अपरावर्तमान प्रकृतियां

नाणंतरायदंसणचउक्कं परघायतित्थउस्सासं।
मिच्छभयकुच्छ धुवबंधिणी उ नामस्स अपरियत्ता ॥२०॥

शब्दार्थ—**नाणंतराय**—ज्ञानावरण (पंचक) और अंतराय (पंचक), **दंसणचउक्क**—दर्शनावरणचतुष्क, **परघाय**—पराघात, **तित्थ**—तीर्थंकर नाम, **उस्सासं**—उच्छ्वासनाम, **मिच्छभयकुच्छ**—मिथ्यात्व, भय, जुगुप्सा, **धुवबंधिणी**—ध्रुवबंधिनी, **उ**—और, **नामस्स**—नामकर्म की, **अपरियत्ता**—अपरावर्तमान।

गाथार्थ—ज्ञानावरण, अन्तराय, दर्शनावरणचतुष्क, पराघात, तीर्थंकर, उच्छ्वास, मिथ्यात्व, भय, जुगुप्सा और नामकर्म की ध्रुवबंधिनी प्रकृतियां ये सभी अपरावर्तमान प्रकृतियां हैं।

विशेषार्थ—गाथा में अल्पवक्तव्य होने के कारण पहले अपरावर्तमान प्रकृतियों का नामोल्लेख किया है। जिसका आशय यह हुआ कि अपरावर्तमान प्रकृतियों के सिवाय शेष प्रकृतियां परावर्तमान समझ लेना चाहिये। अपरावर्तमान प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

'नाणंतरायदंसणचउक्कं' अर्थात् ज्ञानावरण की मतिज्ञानावरण आदि पांचों प्रकृतियां, दानान्तराय आदि पांचों अन्तराय प्रकृतियां तथा दर्शनावरणचतुष्क, पराघातनाम, तीर्थंकरनाम उच्छ्वास, मिथ्यात्व, भय, जुगुप्सा मोहनीय और अगुरुलघु, निर्माण, तैजस, उपघात, वर्णचतुष्क और कार्मणशरीर नामकर्म की ये नौ ध्रुवबंधिनी प्रकृतियां, कुल मिलाकर उनतीस प्रकृतियां बंध और उदय के आश्रय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से अपरावर्तमान हैं। क्योंकि इन प्रकृतियों का बंध, उदय अथवा दोनों बंधने वाली या वेद्यमान अन्य प्रकृतियों के द्वारा घात नहीं किया जा सकता है। अर्थात् किसी भी प्रकृति के द्वारा बंध या उदय रोके जाने के बिना अपना बंध और उदय बतलाने से ये प्रकृतियां अपरावर्तमान कहलाती हैं।

इन उनतीस प्रकृतियों के अलावा बंध की अपेक्षा शेष रही इकानवै प्रकृतियां[1] और उदयापेक्षा सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व मोहनीय सहित तेरानवै प्रकृतियां परावर्तमान हैं। क्योंकि इनमें से कितनी ही प्रकृतियों का बंध उदय और कितनी ही प्रकृतियों का बंध-उदय (उभय) बंधने वाली या वेद्यमान अन्य प्रकृतियों के द्वारा रोका जाता है।

इस प्रकार से अपरावर्तमान-परावर्तमान वर्ग की प्रकृतियों को बतलाने के पश्चात् अब क्रमप्राप्त शुभ-अशुभ प्रकृतियों का निर्देश करते हैं।

शुभ-अशुभ प्रकृतियां

मणुयतिगं देवतिगं तिरियाऊसास अट्ठतणुयंगं।
विहगइवण्णाइसुभं तसाइदसतित्थनिम्माणं ॥२१॥
चउरंसउसभआयवपराघायपणिंदि अगुरुसाउच्चं।
उज्जोयं च पसत्था सेसा बासीइ अपसत्था ॥२२॥

---

१ इन प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

औदारिकद्विक, वैक्रियद्विक, आहारकद्विक, छह संस्थान, छह संहनन, पांच जाति, चार गति, दो विहायोगति, चार आनुपूर्वी, वेदत्रिक, हास्य, रति, शोक, अरति, सोलह कषाय, उद्योत, आतप, दोनों गोत्र, दोनों वेदनीय, पांच निद्रा, त्रसदशक, स्थावरदशक, चार आयु।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दार्थ—मणुयतिगं—मनुष्यत्रिक, **देवतिग**—देवत्रिक, **तिरियाऊसास**—तिर्यंचायु, उच्छ्वास नाम, **अट्ठतणुयंगं**—शरीर-अंगोपांग—अष्टक (पांच शरीर, तीन अंगोपांग), **विहगइवण्णाइसुभं**—**शुभ** विहायोगति और शुभ **वर्ण**चतुष्क, **तसाइदस**—त्रसादि दशक, **तित्थ**—तीर्थंकरनाम, **निम्माणं**—निर्माणनाम।

चउरंस—समचतुरस्रसंस्थान, **उसभ**—वज्रऋषभनाराचसंहनन, **आयव**—आतप, **पराघाय**—पराघात, **पणिंदि**—पंचेन्द्रियजाति, **अगुरुसाउच्चं**—**अगुरुलघु**, सातावेदनीय, उच्चगोत्र, **उज्जोयं**—उद्योत, **च**—और, **पसत्था**—**प्रशस्त** (शुभ), **सेसा**—शेष, **बासीइ**—बयासी, **अपसत्था**—अप्रशस्त-अशुभ।

गाथार्थ—मनुष्यत्रिक, देवत्रिक, तिर्यंचायु, उच्छ्वासनाम, शरीर-अंगोपांग अष्टक, शुभविहायोगति, शुभ-वर्णचतुष्क, त्रस-दशक, तीर्थंकरनाम, निर्माणनाम, तथा—

समचतुरस्रसंस्थान, वज्रऋषभनाराचसंहनन, आतपनाम, पराघातनाम, पंचेन्द्रियजाति, अगुरुलघुनाम, सातावेदनीय, उच्च-गोत्र, उद्योतनाम, ये शुभ प्रकृतियां हैं और इनसे शेष रही बयासी प्रकृतियां अशुभ हैं।

विशेषार्थ—उक्त दो गाथाओं में शुभ प्रकृतियों के नामों का कथन करके अशुभ प्रकृतियों को बतलाने के लिए संकेत किया है कि शुभ प्रकृतियों से शेष रही बयासी प्रकृतियां अशुभ हैं। शुभ प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

'मणुयतिगं'—मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, मनुष्यायु, **देवतिगं**—देव-गति, देवानुपूर्वी, देवायु तथा तिर्यंचायु, उच्छ्वासनाम, औदारिक आदि पांच शरीर और औदारिक अंगोपांग आदि तीन अंगोपांग, शुभ विहा-योगति, शुभ वर्ण, गंध, रस, स्पर्श रूप वर्णचतुष्क, त्रसादिदशक—त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय और यशः-कीर्ति, तीर्थंकरनाम, निर्माणनाम, समचतुरस्रसंस्थान, वज्रऋषभनारा-संहनन, आतप, पराघातनाम, पंचेन्द्रियजाति, अगुरुलघुनाम, साता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वेदनीय, उच्चगोत्र और उद्योतनाम, कुल मिलाकर ये बयालीस प्रकृतियां शुभ हैं और शेष प्रकृतियां अशुभ हैं। बंधयोग्य एक सौ बीस प्रकृतियों की अपेक्षा शुभाशुभ प्रकृतियों की गणना की है।

उक्त प्रकृतियों में से वर्णादि चतुष्क की यह विशेषता है कि इनकी गणना शुभ प्रकृतियों में भी की जाती है और अशुभ में भी। अतः जब एक बार इनका ग्रहण शुभ में करेंगे तो बयालीस शुभ और अठहत्तर प्रकृतियां अशुभ मानी जायेंगी। लेकिन जब शुभ में न करके अशुभ में ग्रहण करेंगे तब शुभ अड़तीस और अशुभ प्रकृतियां बयासी होंगी।

सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व मोहनीय उदय की अपेक्षा अशुभ हैं, बंध की अपेक्षा नहीं। क्योंकि इन दोनों का बंध ही नहीं होता है। जिससे इन दोनों प्रकृतियों का आगे कर्मप्रकृतिसंग्रह अधिकार में अनुभाग-उदीरणा के प्रसंग में पृथक् निर्देश किया जायेगा।

इस प्रकार से शुभ-अशुभ प्रकृतियों को बतलाने के साथ सप्रतिपक्ष ध्रुवबंधी आदि पांच द्वारों का कथन समाप्त होता है। अब पूर्व में जो 'विवागओ चउहा'—विपाक चार प्रकार का होता है, कहा गया था, तदनुसार विपाकापेक्षा प्रकृतियों का वर्गीकरण करते हैं।

पुद्गलविपाकी आदि प्रकृतियां

आयावं संठाणं संघयणसरीरअंग उज्जोयं।
नामधुवोदयउवपरघायं पत्तेय साहारं ॥२३॥
उदइयभावा पोग्गलविवागिणो आउ भवविवागीणि।
खेत्तविवागणुपुव्वी जीवविवागा उ सेसाओ ॥२४॥

शब्दार्थ—**आयावं**—आतप, **संठाणं**—संस्थान, **संघयण**—संहनन, **सरीर**—शरीर, **अंग**—अंगोपांग, **उज्जोयं**—उद्योत, **नामधुवोदय**—नामकर्म की ध्रुवोदया बारह प्रकृतियां, **उवपरघायं**—उपघात, पराघात, **पत्तेय**—प्रत्येक, **साहारं**—साधारण।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदइयभावा—औदयिक भाववाली, **पोग्गलविवागिणो**—पुद्गलविपाकिनी, **आयु**—आयुचतुष्क, **भवविवागीणि**—भवविपाकिनी, **खेत्तविवागणुपुव्वी**—आनुपूर्वीचतुष्क क्षेत्रविपाकिनी हैं, **जीवविवागा**—जीवविपाकिनी, **उ**—और, **सेसाओ**—शेष।

गाथार्थ—आतप, संस्थान, संहनन, शरीर, अंगोपांग, उद्योत, नामकर्म की ध्रुवोदया बारह प्रकृतियां, उपघात, पराघात, प्रत्येक और साधारण ये औदयिकभाव वाली और पुद्गलविपाकिनी प्रकृतियां हैं। आयुचतुष्क भवविपाकिनी, आनुपूर्वीचतुष्क क्षेत्रविपाकिनी और इनसे शेष रही सभी प्रकृतियां जीवविपाकिनी हैं।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में विपाक के आधार से कर्मप्रकृतियों का वर्गीकरण किया है। पूर्व में यह बताया जा चुका है कि विपाक की अपेक्षा प्रकृतियों के चार प्रकार हैं—पुद्गलविपाकी, भवविपाकी, क्षेत्रविपाकी और जीवविपाकी। अब इसी क्रम से प्रत्येक वर्ग में ग्रहण की गई प्रकृतियों को बतलाते हैं।

पुद्गलविपाकी—जो कर्मप्रकृतियां पुद्गल में अर्थात् पुद्गल के विषयभूत शरीरादिक में फल देने के सन्मुख होती हैं, शरीरादिक में जिनके विपाकफल देने की प्रमुखता पाई जाती है, वे प्रकृतियां पुद्गलविपाकी कहलाती हैं। यानी जिन प्रकृतियों के फल को आत्मा पुद्गल द्वारा अनुभव करती है, औदारिकशरीर आदि नामकर्म के उदय से ग्रहण किये हुए पुद्गलों में जो कर्मप्रकृतियाँ अपनी शक्ति व्यक्त करती हैं, ऐसी प्रकृतियां पुद्गलविपाकी कहलाती हैं। ऐसी प्रकृतियां छत्तीस हैं।[1] जिनके नाम यह हैं—

---

१ दिगम्बर कर्मग्रन्थ गोम्मटसार कर्मकाण्ड (गाथा ४६–४९) में भी विपाकी प्रकृतियों को गिनाया है। उनमें पुद्गलविपाकी प्रकृतियां ६२ बतलाई हैं और यहाँ उनकी संख्या ३६ है। इस अन्तर का कारण यह है कि यहाँ

—→

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आतपनाम, समचतुरस्रसंस्थान आदि छह संस्थान, वज्रऋषभनाराचसंहनन आदि छह संहनन, तैजस्, कार्मण को छोड़कर शेष औदारिक, वैक्रिय, आहारक शरीरत्रिक, अंगोपांगत्रिक, उद्योत तथा निर्माण, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, तैजस, कार्मण, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और अगुरुलघुरूप नामकर्म की बारह ध्रुवोदया प्रकृतियां, उपघात, पराघात, प्रत्येक और साधारण, कुल मिलाकर ये छत्तीस प्रकृतियां पुद्गलविपाकी हैं। क्योंकि ये सभी प्रकृतियां अपना-अपना विपाक-फलशक्ति का अनुभव औदारिकशरीर आदि नामकर्म के उदय से ग्रहण किये हुए पुद्गलों में बतलाती हैं और उस प्रकार का उनका विपाक स्पष्ट रूप से दिखलाई देता है। इसी कारण ये सभी प्रकृतियां पुद्गलविपाकी हैं।

अब यदि इन सभी प्रकृतियों का भाव की अपेक्षा विचार किया जाये तो उपर्युक्त सभी प्रकृतियां औदयिकभाव वाली होती हैं। क्योंकि उदय से निष्पन्न को औदयिक कहते हैं और वह भाव है स्वभाव जिनका वे प्रकृतियां औदयिकभाव वाली कहलाती हैं। तात्पर्य यह है कि फल का अनुभव कराने रूप स्वभाव जिनका हो वे प्रकृतियां औदयिकभाव वाली कहलाती हैं।

यद्यपि सभी प्रकृतियां अपने फल का अनुभव तो कराती ही हैं। लेकिन विपाक का जहाँ विचार किया जाता है, उस विचारप्रसंग में

बंधन और संघात प्रकृतियों के पांच-पांच भेदों को छोड़ दिया है और वर्णचतुष्क के मूलभेद लिये हैं, उत्तरभेदों को नहीं गिना है जो बीस हैं। इस प्रकार १०+१६=२६ प्रकृतियों को कम करने से ६२–२६=३६ प्रकृतियां रहती हैं। यहाँ बंधयोग्य १२० प्रकृतियों को ग्रहण किया है। जिनमें बंधन और संघात प्रकृतियां शरीर की अविनाभावी हैं और वर्णचतुष्क की उत्तरप्रकृतियां बंधयोग्य में न गिनकर मूल चार भेद लिये गये हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

औदयिकभाव ही उपयोगी है, क्योंकि उदय के सिवाय विपाक सम्भव ही नहीं है। विपाक का अर्थ ही फल का अनुभव है। इसलिए यहाँ ये सभी प्रकृतियां औदयिकभाव वाली हैं, ऐसा जो गाथा में विशेषण दिया है, वह मात्र प्रकृतियों का जो स्वरूप है, उसका दिग्दर्शन कराने के लिए है, व्यवच्छेदक—पृथक् करने वाला नहीं है तथा यह विशेषण ऐसा भी निश्चित नहीं करता है कि ये पुद्‌गलविपाकी प्रकृतियां औदयिकभाव वाली ही हैं, अन्य भाव वाली नहीं हैं। क्योंकि आगे यथाप्रसंग यह स्पष्ट किया जा रहा है कि क्षायिक और पारिणामिक यह दो भाव भी इनमें प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार से पुद्‌गलविपाकी प्रकृतियों का कथन करने के पश्चात् अब भवविपाकी प्रकृतियों को बतलाते हैं—

भवविपाकी—अपने योग्य नारकादि रूप भव में फल देने की अभिमुखतारूप विपाक जिनका होता है, वे प्रकृतियां भवविपाकी कहलाती हैं। अतएव 'आउ भवविवागीणि' अर्थात् आयुकर्म की चारों प्रकृतियां भवविपाकी हैं। इसका कारण यह है कि वर्तमान भव के दो आदि भाग बीतने के पश्चात् तीसरे आदि भाग में परभव सम्बन्धी आयु का बंध होने पर भी जब तक पूर्वभव का क्षय होने के उपरान्त स्वयोग्य उत्तरभव प्राप्त नहीं होता है, तब तक इनका उदय नहीं होता है। इसीलिये आयुकर्म की चारों प्रकृतियां भवविपाकी हैं।

अब क्षेत्रविपाकी प्रकृतियों को बतलाते हैं—

क्षेत्रविपाकी—'खेत्तविवागणुपुव्वी' अर्थात् नरकानुपूर्वी आदि चारों आनुपूर्वियां क्षेत्रविपाकी हैं। क्योंकि एक गति से दूसरी गति में जाने के कारणभूत आकाशमार्ग रूप क्षेत्र में फल देने की अभिमुखता वाला विपाक जिन प्रकृतियों का होता है, वे प्रकृतियां क्षेत्रविपाकी कहलाती हैं। और इन आनुपूर्वीचतुष्क प्रकृतियों का उदय पूर्वगति से दूसरी गति में जाने वाले जीव को अपान्तराल गति (विग्रहगति) में होता है, शेष काल में नहीं तथा इनके उदय का आश्रय है आकाशरूप क्षेत्र। इसलिये ये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकृतियां क्षेत्रविपाकी कहलाती हैं।[1] यद्यपि अपने योग्य क्षेत्र को छोड़कर अन्यत्र भी इनका संक्रमोदय सम्भव है, फिर भी इनका जैसा क्षेत्रहेतुक स्वविपाकोदय होता है, वैसा अन्य प्रकृतियों का नहीं होता है। इनके उदय में क्षेत्र असाधारण निमित्त है। अतः इनको ही क्षेत्र-विपाकी प्रकृति कहा जाता है।

अब जीवविपाकी प्रकृतियों को बतलाते हैं—

जीवविपाकी—जीव के ज्ञानादि रूप स्वरूप का उपघात आदि करने रूप विपाक जिनका होता है वे प्रकृतियां जीवविपाकी कहलाती हैं। अर्थात् चाहे शरीर हो या न हो तथा भव या क्षेत्र कोई भी हो किन्तु जो प्रकृतियां अपने विपाकफल का अनुभव जीव के ज्ञानादि गुणों का उपघात आदि करने के द्वारा साक्षात जीव को ही कराती हैं, उनको जीवविपाकी प्रकृति कहते हैं। वे प्रकृतियां इस प्रकार हैं—

ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणनवक, वेदनीयद्विक, सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व को छोड़कर मोहनीय की शेष छब्बीस प्रकृतियां, अन्त-रायपंचक, गतिचतुष्टय, जातिपंचक, विहायोगतिद्विक, त्रसत्रिक, स्थावरत्रिक, सुस्वर, दुःस्वर, सुभग, दुर्भग, आदेय, अनादेय, यशः-

---

१ यद्यपि श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परायें आनुपूर्वी नामकर्म को क्षेत्र-विपाकी मानते हैं। लेकिन स्वरूप को लेकर दोनों परम्पराओं में मतभेद है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार 'पूर्वभव के शरीर को छोड़कर जब जीव परभव के शरीर को धारण करने के लिए जाता है तो आनुपूर्वी-नामकर्म श्रेणी के अनुसार गमन करते हुए उस जीव को उसके विश्रेणी में स्थित उत्पत्तिस्थान तक ले जाता है।' जिससे आनुपूर्वी का उदय केवल वक्रगति में ही माना है—'पुव्वीउदओवक्के।' किन्तु दिगम्बर परम्परा में आनुपूर्वीनामकर्म पूर्वशरीर छोड़ने के बाद नया शरीर धारण करने से पहले (विग्रहगति में) जीव का आकार पूर्व शरीर के समान बनाये रखता है और उसका उदय ऋजु और वक्र दोनों गतियों में होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कीर्ति, अयशःकीर्ति, तीर्थंकरनाम, उच्छ्वासनाम, नीचगोत्र, उच्चगोत्र, ये छियत्तर (७६) प्रकृतियां जीवविपाकी हैं। क्योंकि ये प्रकृतियां जीव में ही अपना विपाक दिखलाती हैं, अन्यत्र नहीं।

इन प्रकृतियों को जीवविपाकी मानने का कारण इस प्रकार जानना चाहिए—

ज्ञानावरण की पांचों प्रकृतियां जीव के ज्ञानगुण का घात करती हैं। दर्शनावरण की नौ प्रकृतियां आत्मा के दर्शनगुण को, मिथ्यात्व-मोहनीय सम्यक्त्व को, चारित्रमोहनीय की प्रकृतियां चारित्रगुण को और दानान्तराय आदि अन्तरायकर्म की पांचों प्रकृतियां दानादि लब्धियों को घातती हैं। साता-असाता वेदनीय सुख, दुःख को उत्पन्न करती हैं, जिसके कारण आत्मा सुखी या दुखी कहलाती है और गति-चतुष्क आदि नामकर्म की प्रकृतियां जीव की गति, जाति आदि विविध पर्यायों को उत्पन्न करती हैं। इसलिए ये सभी प्रकृतियां जीवविपाकी कहलाती हैं।

प्रश्न— भवविपाकी आदि सभी प्रकृतियां वस्तुतः विचार करने पर तो जीवविपाकी ही हैं। क्योंकि आयुकर्म की सभी प्रकृतियां अपने-अपने योग्य भव में विपाक दिखलाती हैं किन्तु तत्तत् भव जीव ही धारण करता है, अन्य कोई नहीं। इसी प्रकार चारों आनुपूर्वी भी विग्रहगति रूप क्षेत्र में विपाक को दिखलाती हुई जीव के अनुश्रेणि गमन विषयक स्वभाव को धारण कराती हैं तथा उदय को प्राप्त हुई आतपनाम, संस्थाननाम, आदि पुद्गलविपाकी प्रकृतियां भी उस-उस प्रकार की शक्ति जीव में ही उत्पन्न करती हैं कि जिसके द्वारा वह जीव उसी प्रकार के पुद्गलों को ग्रहण करता है और ग्रहण किये हुए पुद्गलों की उस-उस प्रकार की रचना करता है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि इन सभी प्रकृतियों को जीवविपाकी ही मानना चाहिए।

उत्तर—उक्त तर्क सत्य है और वस्तुस्थिति भी इसी प्रकार की है कि सभी प्रकृतियां जीवविपाकी ही हैं। जीव के बिना दूसरा कोई

Jain Education International　　For Private & Personal Use Only　　www.jainelibrary.org

विपाक-फल का अनुभव करता ही नहीं है। किन्तु यहाँ भव आदि की प्रधानता की विवक्षा से भव आदि का व्यपदेश किया है। अर्थात् भवादि के माध्यम से उन-उन प्रकृतियों के फल को जीव अनुभव करता है, अतः भवादि की मुख्यता होने से उन-उन प्रकृतियों की भव-विपाकी आदि तथाप्रकार की संज्ञा है। इसलिए इसमें कोई दोष नहीं है। विशेष स्पष्टीकरण ग्रन्थकार आचार्य स्वयं आगे करने वाले हैं।

इस प्रकार से विपाकापेक्षा प्रकृतियों का वर्गीकरण करने के पश्चात अब यह स्पष्ट करते हैं कि पुद्गलविपाकी प्रकृतियों के विवेचन के प्रसंग में जो यह बतलाया था कि इनमें औदयिक भाव होता है तो अन्य प्रकृतियों में कौन-कौन से भाव सम्भव हैं।

प्रकृतियों के सम्भव भाव

मोहस्सेव उवसमो खाओवसमो चउण्ह घाईणं।
खयपरिणामियउदया अट्ठण्ह वि होंति कम्माणं ॥२५॥

शब्दार्थ—**मोहस्सेव**—मोहनीयकर्म का ही, **उवसमो**—उपशम, **खाओवसमो**—क्षयोपशम, **चउण्ह**—चारों, **घाईणं**—घातिकर्मों का, **खय**—क्षय (क्षायिक), **परिणामिय**—पारिणामिक, **उदया**—उदय (औदयिक), **अट्ठण्ह**—आठों, **वि**—भी, **होंति**—होते हैं, **कम्माणं**—कर्मों के।

गाथार्थ—उपशम मोहनीयकर्म का ही तथा क्षयोपशम चारों घाति कर्मों का होता है। क्षायिक, पारिणामिक और औदयिक भाव आठों कर्मों में प्राप्त होते हैं।

विशेषार्थ—गाथा में आठों कर्मों में प्राप्त भावों का निर्देश किया है। ये भाव पांच हैं—औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, पारिणामिक और औदयिक। इनके लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं—

औपशमिकभाव—प्रदेश और विपाक दोनों प्रकार से कर्मोदय का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रुक जाना उपशम है[1] और उपशम से होने वाले भाव को औपशमिक भाव कहते हैं। अथवा आत्मा में कर्म की निज शक्ति का कारणवश प्रगट न होना उपशम है प्रयोजन-कारण जिसका उसे औपशमिक भाव कहते हैं।[2]

क्षायोपशमिक भाव—उदयावलिका में प्रविष्ट कर्मांश के क्षय और उदयावलिका में अप्रविष्ट अंश के विपाकोदय को रोकने रूप उपशम के द्वारा होने वाले जीवस्वभाव को क्षायोपशमिकभाव कहते हैं।[3]

क्षायिक—क्षय अर्थात् आत्यन्तिक निवृत्ति यानी सर्वथा नाश होने को क्षय कहते हैं और क्षय को ही क्षायिक भाव कहते हैं। अर्थात् कर्मों के आत्यन्तिक क्षय से प्रगट होने वाला भाव क्षायिक भाव है।[4] अथवा कर्मों के क्षय होने पर उत्पन्न होने वाला भाव क्षायिक है।[5]

पारिणामिक भाव—परिणमित होना अर्थात् अपने मूल स्वरूप का त्याग न करके अन्य स्वरूप को प्राप्त होना परिणाम कहलाता है और परिणाम को ही पारिणामिक कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जीव प्रदेशों के साथ संबद्ध होकर अपने स्वरूप को छोड़े बिना पानी और

---

१ उपशमो विपाकप्रदेशरूपतया द्विविधस्याप्युदयस्स विष्कम्भणं, उपशमः प्रयोजनमस्येत्यौपशमिकः।

२ आत्मनि कर्मणः स्वशक्तेः कारणवशादनुद्भूतिरुपशमः, उपशमः प्रयोजनमस्येत्यौपशमिकः। —स. सि. २/१/१४९/९

३ उदयावलिकाप्रविष्टस्यांशस्य क्षयेण, अनुदयावलिकाप्रविष्टस्योपशमेन विपाकोदयनिरोधलक्षणेन निवृत्तः क्षायोपशमिकः।
—पंचसंग्रह मलय. टीका पृ. १२९

४ क्षय आत्यन्तिकोच्छेदः। —पंचसंग्रह मलय. टीका पृ. १२९

५ कम्माणं खए जादो खइयो। —धवला ५/१,७,१०/२०६/२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूध की तरह मिश्रित होना—एकाकार हो जाना अथवा तत्तत् प्रकार के द्रव्य, क्षेत्र, काल और अध्यवसाय की अपेक्षा से उस-उस प्रकार से संक्रमादि रूप में जो परिणमन वह पारिणामिकभाव कहलाता है।

औदयिकभाव—कर्म के उदय से होने वाले भाव को औदयिकभाव कहते हैं और कर्मप्रकृतियों के शुभाशुभ विपाक का अनुभव करना उदय है।

उक्त पांचों भावों की व्याख्या करने के बाद अब प्रत्येक कर्म में प्राप्त भावों को बतलाते हैं—

'मोहस्सेव उवसमो' अर्थात् ज्ञानावरण आदि आठों कर्मों में से मोहनीयकर्म में ही उपशम भाव प्राप्त होता है, और दूसरे कर्मों में नहीं। क्योंकि मोहनीयकर्म का सर्वथा उपशम होने से जैसे उपशम-भाव का सम्यक्त्व और उपशमभाव रूप यथाख्यातचारित्र होता है, उसी प्रकार से ज्ञानावरणादि कर्मों का उपशम होने से तथारूप केवलज्ञान आदि गुण उत्पन्न ही नहीं होते हैं। उपशम के दो प्रकार हैं—**देशोपशम** और **सर्वोपशम**। उनमें से यहाँ उपशम शब्द से सर्वोपशम की विवक्षा समझना चाहिये, देशोपशम की नहीं। क्योंकि देशोपशम तो आठों कर्मों का होता है, जो कार्यकारी नहीं है।

'खाओवसमो चउण्ह घाईण' अर्थात् क्षायोपशमिकभाव चारों घातिकर्मों—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय—में पाया जाता है, शेष अघातिकर्मों में नहीं। क्योंकि घातिकर्म आत्मा के ज्ञानादि गुणों का घात करते हैं, अतः उनका यथायोग्य रीति से सर्वोपशम या क्षयोपशम होने पर ज्ञानादि गुण प्रगट होते हैं। किन्तु अघातिकर्म आत्मा के किसी भी गुण का घात नहीं करते हैं, जिससे उनका सर्वोपशम अथवा क्षयोपशम भी नहीं होता है। तथा घातिकर्मों में भी केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण के रसोदय को रोकने का अभाव होने से, इन दो प्रकृतियों के सिवाय शेष घातिप्रकृतियों का समझना चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उक्त दोनों भावों से शेष रहे क्षायिक, पारिणामिक और औदयिक ये तीनों भाव आठों कर्मों में पाये जाते हैं। जो इस प्रकार हैं—

मोहनीयकर्म का सर्वथा क्षय सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के चरम समय में, शेष तीन घातिकर्मों का क्षय क्षीणकषायगुणस्थान के चरम समय में और अघाति कर्मों का अयोगिकेवलीगुणस्थान के चरम समय में आत्यन्तिक उच्छेद—सर्वथा नाश होने से क्षायिक भाव आठों कर्मों में पाया जाता है।

आठों कर्मों में पारिणामिक भाव इसलिए पाया जाता है कि आत्मप्रदेशों के साथ पानी और दूध की तरह एकाकार रूप से परिणमित होकर विद्यमान हैं और औदयिकभाव तो सुप्रतीत ही है। क्योंकि सभी संसारी जीवों में आठों कर्मों का उदय दिखता है।

कर्मों में सम्भव भाव की प्राप्ति के उक्त समग्र कथन का सारांश यह है कि मोहनीयकर्म में औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, पारिणामिक और औदयिक ये पांचों भाव सम्भव हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातिकर्मों में औपशमिकभाव के बिना शेष चार भाव और वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चार अघातिकर्मों में क्षायिक, पारिणामिक और औदयिक ये तीन भाव ही संभव हैं।

सरलता से समझने के लिए जिनका प्रारूप इस प्रकार है—

क्रम	कर्मप्रकृति नाम	प्राप्त भाव	कुल भाव
१	मोहनीय	औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, पारिणामिक, औदयिक	पांच
२	ज्ञानावरण	क्षायोपशमिक, क्षायिक, पारिणामिक, औदयिक	चार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रम	कर्मप्रकृति नाम	प्राप्त भाव	कुल भाव
३	दर्शनावरण	क्षायो. क्षायिक. परिणा. औद.	चार
४	अन्तराय	,, ,, ,, ,,	चार
५	वेदनीय	क्षायिक, पारिणामिक, औदयिक	तीन
६	आयु	,, ,, ,,	तीन
७	नाम	,, ,, ,,	तीन
८	गोत्र	,, ,, ,,	तीन

इस प्रकार से आठों मूलकर्मों में सम्भव भाव जानना चाहिये। अब इन भावों के सद्भाव से उत्पन्न होने वाले गुणों का निरूपण करते हैं।

भावों के सद्भाव से जन्य गुण

सम्मत्ताइ उवसमे खाओवसमे गुणा चरित्ताई।
खइए केवलमाइ तव्ववएसो उ उदईए ॥२६॥

शब्दार्थ—**सम्मत्ताइ**—सम्यक्त्व आदि, **उवसमे**—उपशम होने से, **खाओवसमे**—क्षयोपशम होने **से**, **गुणा**—गुण, **चरित्ताई**—चारित्रादि, **खइए**— क्षय होने से, **केवलमाई**—केवलज्ञान आदि, **तव्ववएसो**—तत् (वह) व्यपदेश, **उ**— और, **उदईए**—औदयिक भाव में।

गाथार्थ—उपशम होने से सम्यक्त्व आदि गुण, क्षयोपशम होने से चारित्र आदि गुण और क्षय होने से केवलज्ञानादि गुण प्रगट होते हैं तथा उदय होने से तत्-व्यपदेश अर्थात् औदयिक व्यपदेश होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ—गाथा में उपशम, क्षयोपशम, क्षय और उदय की अपेक्षा उत्पन्न होने वाले गुणों को बतलाया है।

सर्वप्रथम उपशम के होने पर प्राप्त गुण का निर्देश करते हुए कहा है कि—'समत्ताइ उवसमे' अर्थात् मोहनीयकर्म का जब सर्वथा उपशम होता है तब औपशमिकभाव का सम्यक्त्व तथा आदि शब्द से औपशमिकभाव का पूर्ण—यथाख्यातरूप चारित्र, यह दो गुण होते हैं[1] और जब 'खाओवसमे' घातिकर्मों का क्षयोपशम होता है तब 'चरित्ताई' चारित्र आदि गुण प्रगट होते हैं। विशेषता के साथ जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

केवलज्ञान के क्षायिकभाव रूप होने से उसके सिवाय शेष रहे मति, श्रुत, अवधि और मनपर्याय ये चार ज्ञान, मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभंगज्ञान ये तीन अज्ञान तथा केवलदर्शन क्षायिकभाव रूप होने से उसके बिना चक्षु, अचक्षु और अवधि ये तीन दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये पांच लब्धियां, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, देशविरतिचारित्र और (सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि और सूक्ष्मसंपरायरूप) सर्वविरति चारित्र यह अठारह गुण प्रगट होते हैं।[2]

प्रश्न—ज्ञान आत्मा का मूल गुण होने से गाथा में ज्ञानादि गुणों की बजाय 'गुणा चरित्ताई' चारित्र आदि गुणों का निर्देश क्यों किया है ?

उत्तर—सम्यक्त्व की बजाय चारित्र का निर्देश करने का कारण यह है कि चारित्र गुण जब प्रगट होता है तब ज्ञान और दर्शन गुण

---

१ सम्यक्त्वचारित्रे। —तत्त्वार्थसूत्र २।३

२ ज्ञानाज्ञानदर्शनदानादिलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपञ्चभेदाः यथाक्रमं सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च। —तत्त्वार्थसूत्र २।५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवश्य होते ही हैं। इसी का ज्ञापन कराने के लिये गाथा में चारित्रगुण का उल्लेख किया है। अर्थात् सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के सद्भाव में ही चारित्र सम्यक्चारित्र कहलाता है। जिससे चारित्र के ग्रहण से उनका भी ग्रहण कर लिया गया समझना चाहिये।

'खइए केवलमाई' अर्थात् क्षायिकभाव के प्रवर्तमान होने पर केवलादि अर्थात् केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व, यथाख्यात चारित्र और दानादि पांच लब्धि, ये नौ गुण उत्पन्न होते हैं।[1] उनमें से ज्ञानावरण का सर्वथा क्षय होने से केवलज्ञान, दर्शनावरण का सर्वथा क्षय होने से केवलदर्शन, मोहनीयकर्म का क्षय होने से क्षायिक सम्यक्त्व और यथाख्यातचारित्र तथा अन्तरायकर्म का क्षय होने से सम्पूर्ण दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये पांच लब्धियाँ प्रगट होती हैं[2] और निःशेष रूप से कर्मक्षय होने पर परम निश्रेयस् रूप मोक्ष प्राप्त होता है।[3]

'तव्ववएसो उ उदईए' अर्थात् औदयिक भाव के प्रवर्तित होने पर उस कर्म के उदयानुसार जीव का व्यपदेश होता है यानी कहलाता है। जैसे कि प्रबल ज्ञानावरण के उदय से अज्ञानी, प्रबल दर्शनावरण के उदय में अन्धा, बधिर, मूक इत्यादि किसी भी एक अंग से चेतना रहित

---

१ सम्यक्त्वचारित्रे। ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च।

—तत्त्वार्थसूत्र २।३,४

२ क्षायिक भावजन्य नौ भेदों की प्राप्ति सिद्धों में इस प्रकार से समझना चाहिए—

केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण का निःशेष रूपेण क्षय होने से केवलज्ञान और केवलदर्शन, मोहनीय और अनन्तानुबंधी कषाय के क्षय से जन्य आत्मिक गुणरूप क्षायिक सम्यग्दर्शन, चारित्रमोहनीय कर्म के क्षय से जन्य स्वरूपरमणता रूप चारित्र एवं अन्तरायकर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाली आत्मिक गुणरूप दानादि लब्धियां सिद्धों में पाई जाती हैं।

३ कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः। —तत्त्वार्थ सूत्र १०।३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इत्यादि, वेदनीयकर्म के उदय से सुखी-दुःखी, क्रोधादि के उदय से क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी इत्यादि, नामकर्म के उदय से मनुष्य, देव, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय, त्रस, बादर, पर्याप्त इत्यादि, उच्चगोत्र के उदय से यह क्षत्रिय-पुत्र है, यह सेठपुत्र है इत्यादि प्रशंसासूचक और नीचगोत्र के उदय में यह वेश्यापुत्र है, यह चांडाल है इत्यादि रूप से निन्दनीय व्यपदेश होता है और अन्तरायकर्म के उदय से कृपण, अलाभी, अभोगी इत्यादि अनेकरूप से जीव का व्यपदेश होता है। इसलिये यथारूप कर्म के उदय अनुसार जीव का वह व्यपदेश होता है—कहलाता है।[1]

इस प्रकार के उपशम आदि चार भावों से उत्पन्न गुणों को बतलाने के पश्चात् अब शेष रहे पारिणामिक भाव के सम्बन्ध में विशेषता के साथ प्रतिपादन करते हैं—

नाणंतरायदंसणवेयणियाणं तु भंगया दोन्नि।
साइसपज्जवसाणोवि होइ सेसाण परिणामो ॥२७॥

शब्दार्थ— **नाणंतरायदंसणवेयणियाणं**—ज्ञानावरण, अंतराय, दर्शनावरण और वेदनीय के, **तु**—और, **भंगया**—भंग, **दोन्नि**—दो, **साइ**—सादि, **सपज्जवसाणो**—सपर्यवसान-सांत, **वि**—भी, **होइ**—होते हैं, **सेसाण**—शेष कर्मों के, **परिणामो**—पारिणामिक भाव में।

गाथार्थ—ज्ञानावरण, अंतराय, दर्शनावरण और वेदनीय में दो भंग होते हैं, और शेष कर्मों में सादि-सपर्यवसान भंग भी होते हैं।

विशेषार्थ—पारिणामिक भाव का लक्षण पूर्व में बतला चुके हैं कि यह भाव कर्मों के उदय, उपशम, क्षय आदि की अपेक्षा न रखते हुए सहज स्वभावजन्य है। अतः सादि-अनादि भगों की अपेक्षा विचार

---

१ औदयिक भाव के २१ भेद हैं—

गतिकषायलिंगमिथ्यादर्शनाऽज्ञानाऽसंयताऽसिद्धत्वलेश्याश्चतुश्चतुश्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः।
—तत्त्वार्थसूत्र २।६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया जाना संभव होने से उन्हीं भंगों का विचार करते हैं कि ज्ञानावरण, अतराय, दर्शनावरण और वेदनीय इन चार कर्मों में प्रवाह क्रम से सामान्यतः अनादि-अनन्त और अनादि-सांत यह दो भंग संभव हैं। इनमें से भव्य की अपेक्षा अनादि-सांत भंग होता है। क्योंकि जीव और कर्म का प्रवाह की अपेक्षा अनादि काल से सम्बन्ध है। अतः आदि का अभाव होने से अनादि और मुक्तिगमन के समय कर्मबंध का नाश होने से सांत है। इस प्रकार से भव्य के अनादि-सांत भंग घटित होता है और अभव्य की अपेक्षा अनादि-अनन्त। इसमें अनादि विषयक कथन तो भव्यापेक्षा किये गये विचार की तरह यहाँ भी समझ लेना चाहिये और उसे किसी भी समय कर्मसम्बन्ध का नाश होने वाला नहीं होने से अनंत है। इस प्रकार से अभव्यापेक्षा अनादि-अनन्त भंग घटित होता है। अर्थात् ज्ञानावरण आदि चार कर्मों में भव्याभव्यापेक्षा अनादि-सांत और अनादि-अनन्त यह दो भंग समझना चाहिए। लेकिन उपर्युक्त चार कर्मों में किसी भी अपेक्षा सादि-सांत भंग संभव नहीं है। क्योंकि इन चारों कर्मों में से किसी भी कर्म की अथवा इनकी किसी भी उत्तरप्रकृति की सत्ता का विच्छेद होने के पश्चात् पुनः सत्ता नहीं होती है।

ज्ञानावरणादि उक्त चार कर्मों से शेष रहे मोहनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चार कर्मों का पारिणामिक भाव सादि-सांत भी होता है—'साइसपज्जवसाणोवि'। लेकिन यहाँ इतना समझना चाहिए कि यह सादि-सांतरूप तीसरा भंग मोहनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्म की कुछ एक उत्तरप्रकृतियों के आश्रय से सम्भव है और कितनी ही प्रकृतियों की अपेक्षा तो पूर्वोक्त अनादि-अनन्त और अनादि-सांत यह दो भंग घटित होते हैं।

उक्त कथन का सारांश है कि उत्तरप्रकृतियों की अपेक्षा मोहनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चार कर्मों में अनादि-अनन्त, अनादि-सांत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और सादि-सांत यह तीन भंग होते हैं। जिनका स्पष्टीकरण इस प्रकार हैं—

जिन प्रकृतियों की सत्ता न हो और पुनः सत्ता में प्राप्त हों, अर्थात् जो प्रकृति सत्ता का नाश होने के पश्चात पुनः उनकी सत्ता हो तो उनमें सादि-सान्तरूप भंग घटित होता है और उनसे शेष रही अन्य प्रकृतियों में अनादि-अनन्त और अनादि-सांत ये दो भंग होते हैं और ये दोनों भंग पूर्व में कहे गये अभव्य और भव्य की अपेक्षा जानना चाहिए।

अब जिन कतिपय उत्तरप्रकृतियों में सादि-सांतरूप तीसरा भंग भी सम्भव है, उन उत्तरप्रकृतियों को बतलाते हैं—

उपशमसम्यक्त्व की जब प्राप्ति होती है तब सम्यक्त्व और सम्यग्-मिथ्यात्व मोहनीय इन दो प्रकृतियों की सत्ता सम्भव है। पंचेन्द्रिय की प्राप्ति होने पर वैक्रियषट्क की, सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर तीर्थंकरनाम की, संयम की प्राप्ति होने पर आहारकद्विक की सत्ता सम्भव है। इसलिए इन प्रकृतियों में सादि-सांत यह भंग घटित होता तथा अनन्तानुबंधीकषाय, मनुष्यद्विक, उच्चगोत्र आदि उद्‌वलन योग्य प्रकृतियों की उद्‌वलना[1] होने के पश्चात् पुनः उनका बंध सम्भव होने से वे सत्ता को प्राप्त कर लेती हैं। इसलिए उनमें सादि-सांत भंग घटित होता है। आयुकर्म की प्रकृतियों में तो उन-उनके अनुक्रम से सत्ता में प्राप्त होने से सादि-सांत भंग स्पष्ट ही है। इस प्रकार उपर्युक्त प्रकृतियों में ही सादि-सांत भंग घटित होता है। लेकिन अप्रत्याख्यानावरण क्रोधादि, औदारिक आदि शरीर और नीच-

---

१ जिस प्रकृति का बंध किया हो, पीछे परिणामविशेष से भागाहार के द्वारा अपकृष्ट करके उसको अन्य प्रकृतिरूप परिणमा के नाश कर देने को (उदय में आने देने के पूर्व नाश कर देने को) उद्‌वलना कहते हैं। उद्-वलनायोग्य प्रकृतियों नाम आगे बतलाये हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गोत्र रूप प्रकृतियां जो कि सत्ता का नाश होने के पश्चात पुनः सत्ता को प्राप्त नहीं करती है, उन प्रकृतियों में भव्य के अनादि-सांत और अभव्य के अनादि-अनन्त यही दो भंग घटित होते हैं।

यह कथन मोहनीय आदि चार कर्मों की उत्तरप्रकृतियों की अपेक्षा समझना चाहिए कि कतिपय प्रकृतियों में सादि-सांत भंग संभव है। लेकिन मूल कर्मों की दृष्टि से प्रत्येक का विचार किया जाये तो अनादि-अनन्त और अनादि-सान्त यही दो भंग सम्भव हैं। क्योंकि मूल कर्मप्रकृतियों की सत्ता का नाश होने के पश्चात् पुनः वे सत्ता को प्राप्त करती ही नहीं हैं।

इस प्रकार से औपशमिक आदि पांच भावों का विचार करने के पश्चात् अब क्षयोपशम की स्वरूप व्याख्या के सन्दर्भ में जिज्ञासु द्वारा प्रस्तुत आशंका का समाधान करते हैं।

प्रकृतियों के उदय में क्षयोपशमभाव की सम्भावना

उदये च्चिय अविरुद्धो खाओवसमो अणेगभेओ त्ति ।
जइ भवति तिण्ह एसो पएसउदयंमि मोहस्स ॥२८॥

शब्दार्थ—**उदये**—उदय रहते, **च्चिय**—भी, **अविरुद्धो**—विरोध नहीं है, **खाओवसमो**—क्षायोपशमिक भाव, **अणेगभेओत्ति**—अनेक भेद वाला है, **जइ**—यदि, **भवति**—होता है, **तिण्ह**—तीन, **एसो**—यह, **पएस**—प्रदेश, **उदयंमि**—उदय में, **मोहस्स**—मोहनीयकर्म के।

गाथार्थ—उदय के होने पर भी क्षायोपशमिक भाव के होने में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। क्योंकि वह अनेक प्रकार का होता है। उदय के होते जो क्षायोपशमिक भाव होता है, वह तीन कर्मों में ही होता है किन्तु मोहनीयकर्म में प्रदेशोदय के होने पर ही क्षायोपशमिक भाव होता है।

विशेषार्थ—ग्रन्थकार आचार्य ने गाथा में जिस प्रश्न का समाधान किया है, पूर्व पक्ष के रूप में वह इस प्रकार है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्न—कर्मों का क्षयोपशम उनका उदय हो तब होता है अथवा उदय न हो तब होता है ? यदि यह कहो कि उदय हो तब होता है तो उसमें विरोध आता है। वह इस प्रकार—क्षायोपशमिक भाव उदयावलिका में प्रविष्ट अंश का क्षय होने से और उदय-अप्राप्त अंश के विपाकोदय को रोकने रूप उपशम होने से उत्पन्न होता है, अन्यथा उत्पन्न नहीं होता है। इसलिए यदि उदय हो तो क्षयोपशम कैसे हो सकता है ? और यदि क्षयोपशम हो तो उदय कैसे हो सकता है ? अब यदि यह कहो कि अनुदय यानी कर्म का उदय न हो तब क्षयोपशम होता है तो यह कथन भी अयुक्त है। क्योंकि उदय का अभाव होने से ही ज्ञानादि गुणों के प्राप्त होने रूप इष्ट फल सिद्ध होता है। उदय-प्राप्त कर्म ही आत्मा के गुणों का घात करते हैं, परन्तु जिनका उदय नहीं है वे किसी भी गुण के रोधक नहीं होते हैं, तो फिर क्षयोपशम होने से विशेष क्या हुआ ? मतिज्ञानावरणादि कर्मों का उदय नहीं होने से ही मतिज्ञानादि गुण प्राप्त होंगे तो फिर क्षायोपशमिक भाव की कल्पना किसलिए करना चाहिये ? क्षायोपशमिक भाव की कल्पना ही व्यर्थ है।

आचार्य इस पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं—

उत्तर—'उदये च्चिय अविरुद्धो खाओवसमो'—अर्थात् जब उदय हो तब क्षायोपशमिक भाव होता है, इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है। इसीलिये तो कहा है—उदय रहते अनेक भेद—प्रकार का क्षयोपशम होता है। यदि उदय रहते क्षायोपशमिक भाव प्रवर्तित हो तो वह तीन कर्मों में ही होता है और मोहनीयकर्म में प्रदेशोदय होने पर ही क्षायोपशमिक भाव होता है। विशेषता के साथ जिसका स्पष्टी-करण इस प्रकार है—

ज्ञानावरण आदि कर्मों का जब तक क्षय न हो, तब तक वे ध्रुवो-दयी हैं, जिससे उनका उदय रहते ही क्षयोपशम घटित होता है किन्तु अनुदय में नहीं। इसका कारण यह है कि उदय के अभाव में वे ज्ञाना-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वरणादिकर्म सम्भव नहीं हैं। इसलिये उदय होने पर ही क्षायोपशमिक भाव होता है, इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है तथा पूर्व में 'यदि उदय हो तो क्षयोपशम कैसे हो सकता है' इस प्रकार जो विरोध उपस्थित किया था, वह भी अयोग्य है। इसका कारण यह है—

देशघाति स्पर्धकों का उदय होने पर भी कितने ही देशघाति स्पर्धकों की अपेक्षा से क्षयोपशम होने में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। वह क्षयोपशम उस-उस प्रकार की द्रव्य, क्षेत्र और काल आदि सामग्री के वश से विचित्र प्रकार का सम्भव होने से अनेक प्रकार का है—'अणेगभेओत्ति', तथा उदय के रहते यदि क्षायोपशमिक भाव होता है तो वह सभी कर्मों का नहीं किन्तु ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन कर्मों का ही होता है— 'जइ भवति तिण्ह एसो'।

प्रश्न—उक्त कथन का यही तो आशय हुआ कि तीन कर्मों का क्षयोपशम होता है तो फिर मोहनीयकर्म का क्षयोपशम कैसे होता है ?

उत्तर—'पएस उदयंति मोहस्स' अर्थात् मोहनीयकर्म का क्षयोपशम होता है। किन्तु उसकी इतनी विशेषता है कि मोहनीयकर्म का प्रदेशोदय हो तभी क्षयोपशम होता है किन्तु रसोदय के रहते नहीं होता है। क्योंकि अनन्तानुबधी आदि प्रकृतियां सर्वघाति हैं और सर्वघाति प्रकृतियों के सभी रसस्पर्धक[1] सर्वघाति ही होते हैं, देशघाति नहीं। सर्वघाति रसस्पर्धक स्वघात्यगुण का समग्ररूप से घात करते हैं, देश से नहीं। जिससे उनके विपाकोदय में क्षयोपशम सम्भव नहीं है, किन्तु प्रदेशोदय के होने पर क्षयोपशम सम्भव है।

प्रश्न—प्रदेशोदय होते हुए भी क्षयोपशम भाव कैसे हो सकता

---

१ अविभाग प्रतिच्छेदों की राशि को वर्ग, समानगुण और समसंख्या वाले सर्व प्रदेशों की वर्गराशि को वर्गणा और वर्गणाओं के समुदाय को स्पर्धक कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है ? क्योंकि सर्वघातिस्पर्धकों के दलिक स्वघात्यगुण को सर्वथा प्रकार से घात करने के स्वभाव वाले होते हैं।

उत्तर—यह कथन योग्य नहीं है। क्योंकि सर्वघातिस्पर्धकों के दलिकों को तथाप्रकार से शुद्ध अध्यवसाय के बल से कुछ अल्प शक्ति वाला करके विरल-विरलतया वेद्यमान देशघाति रसस्पर्धकों में स्तिबुक-संक्रम[1] के द्वारा संक्रमित किये जाने से जितनी उनमें फल देने की शक्ति है, उसे प्रगट करने में समर्थ नहीं होते हैं, अर्थात् रसोदय हो किन्तु जितना फल दे सकें, उतना फल देने में समर्थ नहीं होते हैं, जिससे वे स्पर्धक क्षयोपशम का घात करने वाले नहीं होते हैं। इसलिए मोहनीय कर्म का प्रदेशोदय होने पर भी क्षयोपशम भाव का विरोधी नहीं है। तथा—

'अणेग भेओत्ति' इस पदगत 'इति' शब्द अधिक अर्थ का सूचक होने से यह विशेष समझना चाहिए कि आदि की बारह कषाय और मिथ्यात्वमोहनीय रहित शेष मोहनीय प्रकृतियों का प्रदेशोदय अथवा विपाकोदय होने पर भी क्षयोपशम होता है, इसमें कुछ भी विरोध नहीं हैं। क्योंकि संज्वलन आदि मोहनीय की प्रकृतियां देशघाति हैं और उसमें भी यह विशेष है कि सर्वघाति प्रकृतियों के अतिरिक्त शेष मोहनीयकर्म की प्रकृतियां अध्रुवोदया हैं। जिससे विपाकोदय के अभाव में क्षायोपशमिक भाव होने पर और प्रदेशोदय सम्भव होने पर भी वे प्रकृतियां अल्पमात्रा में भी देशघाति नहीं होती हैं किन्तु जब विपाकोदय हो तब क्षायोपशमिक भाव होते भी कुछ मलिनता करने वाली होने से देशघाति होती हैं, गुण के एकदेश का घात करने वाली होती हैं।

उक्त कथन का सारांश यह है कि देशघाति प्रकृतियों के उदय रहते भी क्षयोपशम हो सकता है और सर्वघाति प्रकृतियों के उदय में

---

१ अनुदीर्ण प्रकृति के दलिकों को समान स्थिति वाली उदय-प्राप्त प्रकृति में संक्रमित करके अनुभव किये जाने को स्तिबुकसंक्रम कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं परन्तु प्रदेशोदय के समय क्षयोपशम[1] हो सकता है। इन प्रकृतियों में केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण का तो क्षयोपशम होता ही नहीं है। क्योंकि वे क्षायिकभाव वाली हैं तथा देशघाति प्रकृतियों में भी जब उनका रसोदय हो तभी वे गुण का घात करने वाली होती हैं,

---

१ क्षयोपशम का अर्थ है उदयप्राप्त कर्मपुद्गलों का क्षय और उदय अप्राप्त पुद्गलों को उपशमित करना। यहाँ उपशम के दो अर्थ हो सकते हैं—१ उदयप्राप्त कर्मपुद्गलों का क्षय और सत्तागत दलिकों को अध्यवसायानुसार हीनशक्ति वाला करना, २ उदयप्राप्त कर्मपुद्गलों का क्षय और सत्तागत दलिकों को अध्यवसायानुसार हीनशक्ति वाला करके स्वरूप से फल न दें, ऐसी स्थिति में स्थापित करना। पहला अर्थ ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन कर्मों में घटित होता है। उनके उदय-प्राप्त दलिकों का क्षय और सत्तागत दलिकों को परिणामानुसार हीन शक्ति वाला करके उनको स्वरूप से अनुभव करता है। स्वरूप से अनुभव करने पर भी शक्ति के हीन किये जाने से वे गुण के विघातक नहीं होते हैं। जिस प्रमाण में शक्ति है, तदनुसार गुण को आवृत करते हैं और जितने प्रमाण में शक्ति न्यून की, तदनुरूप गुण प्रगट होता है।

मोहनीयकर्म में दूसरा अर्थ घटित होता है। उसके उदयप्राप्त दलिकों का क्षय कर सत्तागत दलिकों में से परिणामानुसार हीनशक्ति वाला करके ऐसी स्थिति में स्थापित कर देता है कि जिससे उनका स्वरूपतः उदय नहीं होता है। जैसे कि मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी आदि बारह कषायों के उदयप्राप्त दलिकों का क्षय करके सत्तागत दलिकों को हीनशक्ति वाला करके ऐसी स्थिति में स्थापित कर दिया जाता है कि उनका स्वरूप से उदय नहीं होता है तब सम्यक्त्वादि गुण प्रगट होते हैं। जब तक इन प्रकृतियों का रसोदय हो तब तक स्वावार्य गुण प्रगट नहीं होने देता है। क्योंकि वे प्रकृतियां सर्वघाति हैं और मोहनीय कर्म की देशघाति प्रकृतियों में पहला अर्थ घटित होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रदेशोदय हो तब नहीं और सर्वघाति प्रकृतियों का प्रदेशोदय भी कुछ न कुछ अंश में विघात करने वाला होता है।

पूर्वगाथा में सर्वघातिरसस्पर्धकों का उदय इत्यादि रूप से जो औदयिक भाव का संकेत किया गया है वह औदयिक भाव प्रकृतियों में दो प्रकार से होता है—शुद्ध और क्षायोपशमिक भावयुक्त। अतः अब इनका स्वरूप स्पष्ट करने के लिए पहले स्पर्धकों का विचार करते हैं।

देश-सर्वघाति स्पर्धक

चउतिट्ठाणरसाइं सव्वघाईणि होंति फड्डाइं।
दुट्ठाणियाणि मीसाणि देसघाईणि सेसाणि ॥२६॥

शब्दार्थ—चउतिट्ठाणरसाइ—चतुः और त्रि स्थानक रस वाले, **सव्व-घाईणि**—सर्वघाति, **होंति**—होते हैं, **फड्डाइं**—स्पर्धक, **दुट्ठाणियाणि**—द्वि-स्थानक रस वाले, **मीसाणि**—मिश्र, **देसघाईणि**—देशघाति, **सेसाणि**—शेष।

गाथार्थ—चतुःस्थानक और त्रिस्थानक रस वाले सभी स्पर्धक सर्वघाति होते हैं, द्विस्थानक रस वाले मिश्र और शेष स्पर्धक देशघाति हैं।

विशेषार्थ—यद्यपि ग्रन्थकार आचार्य स्वयं बंधनकरण अधिकार में रसस्पर्धकों का स्वरूप विस्तार से बतलाने वाले हैं, लेकिन प्रासंगिक होने से यहाँ भी संक्षेप में उनका उल्लेख करते हैं कि वे स्पर्धक तीव्र, मन्द आदि रस के भेद से चार प्रकार के हैं—एकस्थानक, द्विस्थानक, त्रिस्थानक, और चतुःस्थानक।[1]

---

१ कर्मवर्गणाओं में कषायोदयजन्य अध्यवसायों द्वारा उत्पन्न ज्ञानादि गुणों के आवृत करने और सुख-दुःखादि उत्पन्न करने की शक्ति को रस कहते हैं। जघन्यतम कषायोदय से लेकर अधिक से अधिक कषायोदय से उत्पन्न रस को चार विभागों में विभाजित किया है—१ मन्द, २ तीव्र, ३ तीव्रतर, ४ तीव्रतम। उनकी ही एक स्थानक आदि संज्ञा है और इन प्रत्येक के भी मन्द, तीव्र आदि अनन्त भेद होते हैं। —→

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन एकस्थानक आदि की व्याख्या भी इसी प्रकरण में आगे की जा रही है कि शुभ प्रकृतियों का रस खीर, खांड़ आदि की उपमा वाला मिष्ट रस जैसा है और अशुभ प्रकृतियों का नीम, कड़वी तूंबड़ी आदि की उपमा वाला कटुक रस जैसा है। इनमें से जो उनका स्वाभाविक रस है वह एकस्थानक—मंद रस कहलाता है, दो भाग उबालने पर जो एक भाग शेष रहता है वह द्विस्थानक—तीव्र रस, तीन भाग उबालने पर शेष रहा एक भाग त्रिस्थानक—तीव्रतर रस है और चार भाग उबालने पर शेष रहा एक भाग चतुःस्थानक तीव्रतम रस कहलाता है। एकस्थानक रस के भी बिन्दु, चुल्लू, अंजलि आदि प्रमाण पानी डालने पर मंद, अतिमंद आदि अनेक भेद होते हैं। इसी प्रकार द्विस्थानक आदि के भी अनेक भेद होते हैं। इस दृष्टान्त के माध्यम से कर्म में भी चतुःस्थानक आदि रस और उन-उनके भी अनन्त भेद समझ लेना चाहिये और उनमें भी उत्तरोत्तर अनन्तगुणता है। अर्थात् एकस्थानक रस से द्विस्थानक रस अनन्तागुण तीव्र है, उससे त्रिस्थानक और त्रिस्थानक से भी चतुःस्थानक रस अनन्तगुण तीव्र है।

अब प्रकृत विषय का विचार करते हैं कि सर्वघाति प्रकृतियों के चतुःस्थानक, त्रिस्थानक और द्विस्थानक रसस्पर्धक सर्वघाति ही हैं—'सव्वघाईणि होंति फड्डाइ' और देशघाति प्रकृतियों के मिश्र हैं। अर्थात् कितने ही सर्वघाति हैं और कितने ही देशघाति हैं और एकस्थानक सभी रसस्पर्धक देशघाति ही हैं। एकस्थानक रसस्पर्धक देशघाति प्रकृतियों के ही होते हैं किन्तु सर्वघाति प्रकृतियों में सम्भव नहीं हैं।

उक्त कथन का सारांश यह है कि त्रिस्थानक और चतुःस्थानक रसस्पर्धक सर्वघाति ही हैं और सर्वघातिप्रकृतियों के द्विस्थानक रस-

---

रस के एकस्थानक आदि चार भेदों को करने का कारण है कि कषाय के चार प्रकार हैं और रसबंध में कारण कषाय हैं। जिससे रस के अनन्त भेदों का समावेश चार में किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्पर्धक तो सर्वघाति हैं, लेकिन देशघाति प्रकृतियों में पाये जाने वाले द्विस्थानक रसस्पर्धक देशघाति और सर्वघाति दोनों रूपों से मिश्रित हैं। एकस्थानक रस के निकटवर्ती देशघाति और त्रिस्थानक के समीपवर्ती सर्वघाति और एकस्थानक रसस्पर्धक देशघाति ही हैं। सर्वघाति प्रकृतियों में चारों स्थानक रस सम्भव है और वह सर्वघाति ही होगा और देशघाति प्रकृतियों में एक और द्विस्थानक रस पाया जाता है। एकस्थानक तो शुद्ध रूप से देशघाति है, लेकिन द्विस्थानक का जो अंश सर्वघाति के निकटतम है वह सर्वघाति के सहयोग से उस जैसा विपाक दिखलायेगा और शेष अंश स्वघात्यगुण का आंशिक घात करेगा।

इस प्रकार से स्पर्धकों का विचार करने के पश्चात् अब जिस तरह औदयिक भाव शुद्ध और क्षयोपशम भाव युक्त होता है, यह बतलाते हैं—

निहएसु सव्वघाईरसेसु फड्डेसु देसघाईणं।
जीवस्स गुणा जायंति ओहीमणचक्खुमाईया ॥३०॥

शब्दार्थ—**निहएसु**—निहित होने पर, परिणमित होने पर, **सव्वघाई-रसेसु**—सर्वघाति रस के, **फड्डेसु**—स्पर्धक में, **देसघाईणं**—देशघाति प्रकृतियों के, **जीवस्स**—जीव के, **गुणा**—गुण, **जायंति**—उत्पन्न होते हैं, **ओहीमणचक्खु-माईया**—अवधिज्ञान, मनपर्यायज्ञान, चक्षुदर्शन आदि।

गाथार्थ – देशघाति प्रकृतियों के सर्वघाति रसस्पर्धक निहित होने पर—परिणमित होने पर जीव को अवधिज्ञान, मनपर्यायज्ञान, चक्षुदर्शन आदि गुण उत्पन्न होते हैं।

विशेषार्थ—गाथा में औदयिक भाव शुद्ध और क्षयोपशमभावयुक्त होने के कारण को बताया है कि जब अवधिज्ञानावरणादि देशघाति कर्मप्रकृतियों के रसस्पर्धक तथाप्रकार के विशुद्ध अध्यवसाय रूप बल के द्वारा निहित—देशघाति रूप में परिणमित होते हैं और अति-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्निग्ध रस वाले देशघातिस्पर्धक भी अल्परस वाले किये जाते हैं तब उनमें से उदयावलिका में प्रविष्ट कितने ही रसस्पर्धकों का क्षय और शेष स्पर्धकों के विपाकोदय को रोकने रूप उपशम होने पर जीव को क्षयोपशमभाव के अवधिज्ञान, मनपर्यायज्ञान और चक्षुदर्शनादि गुण उत्पन्न होते हैं।

उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि अवधिज्ञानावरणादि देशघाति कर्मप्रकृतियों के सर्वघाति रसस्पर्धकों का जब रसोदय हो तब तो केवल औदयिकभाव ही होता है, क्षयोपशमभाव नहीं होता है क्योंकि तब सर्वघातिस्पर्धक स्वावार्य गुण को सर्वथाप्रकारेण आवृत करते हैं। परन्तु देशघाति रसस्पर्धकों का उदय होने पर उन देशघाति स्पर्धकों में से कितने ही का उदय होने से औदयिकभाव और कितने ही देशघाति रसस्पर्धक सम्बन्धी उदयावलिका में प्रविष्ट अंश का क्षय और अनुदित अंश का उपशम होने से क्षायोपशमिक, इस तरह दोनों भाव होने से क्षायोपशमिकभाव से अनुस्यूत—क्षायोपशमिकभाव युक्त औदयिकभाव होता है। लेकिन मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अचक्षुदर्शनावरण और अन्तराय, इन कर्मप्रकृतियों का तो सदैव देशघाति रसस्पर्धकों का ही उदय होता है, सर्वघातिरसस्पर्धकों का उदय नहीं होता है, जिससे उन कर्मप्रकृतियों के सदैव औदयिक-क्षायोपशमिक इस प्रकार मिश्रभाव होता है, लेकिन मात्र औदयिकभाव नहीं होता है।

इसका कारण यह है कि देशघातिनी सभी कर्मप्रकृतियां बंध के समय सर्वघातिरस के साथ ही बंधती हैं और उदय में मति-श्रुतज्ञानावरण, अचक्षुदर्शनावरण और अन्तराय इतनी प्रकृतियों का सदैव देशघातिरस ही होता है। इनमें से जब सर्वघातिरस उदय में होता है तब वह रस स्वावार्य गुण को सर्वथा आवृत करने वाला होने से चक्षुदर्शन, अवधिज्ञान आदि गुण प्रगट नहीं होते हैं किन्तु देशघाति रसस्पर्धकों का उदय हो तभी वे गुण प्रगट होते हैं। इसलिए जब

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

सर्वघाति रसस्पर्धकों का उदय हो तब तो केवल औदयिकभाव ही होता है तथा सर्वघाति रसस्पर्धकों को अध्यवसाय के द्वारा देशघाति रूप में करके और उनको भी हीनशक्ति वाला कर दिया जाये और उनका अनुभव करे तब औदयिक और क्षायोपशमिक यह दोनों भाव होने से उदयानुविद्ध क्षयोपशमभाव पाया जाता है।

इस प्रकार से औदयिकभाव के शुद्ध और क्षयोपशमभाव युक्त होने की स्थिति जानना चाहिये।

अब पूर्व में जो रस के चतुःस्थानक आदि भेद बतलाये हैं, उनको बंधापेक्षा प्रकृतियों में बतलाते हैं कि किस प्रकृति में कितने प्रकार के रसस्पर्धक सम्भव हैं।

बन्धापेक्षा प्रकृतियों में रसस्पर्धक-प्रकार

आवरणमसव्वग्घं पुंसंजलणंतरायपयडीओ।
चउट्ठाणपरिणयाओ दुतिचउठाणाउ सेसाओ ॥३१॥

शब्दार्थ—**आवरणमसव्वग्घं**—सर्वघाति भाग से शेष आवरणद्विक, **पुंसंजलणंतराय**—पुरुषवेद, संज्वलनकषाय और अन्तराय, **पयडीओ**—कर्मप्रकृतियां **चउट्ठाण**—चतुःस्थान, **परिणयाओ**—परिणत, **दुतिचउठाणाओ**—द्वि, त्रि और चतुःस्थान परिणत, **सेसाओ**—शेष प्रकृतियां।

गाथार्थ—सर्वघाति भाग से शेष आवरणद्विक—ज्ञानावरण, दर्शनावरण की प्रकृतियां, पुरुषवेद, संज्वलनकषाय और अन्तराय की प्रकृतियां चतुःस्थान परिणत हैं और इनके अतिरिक्त शेष सभी प्रकृतियां द्वि, त्रि और चतुः इस तरह तीन स्थान परिणत हैं।

विशेषार्थ—गाथा में बंधप्रकृतियों में प्राप्त रसस्पर्धकों के प्रकारों को बतलाया है—

Jain Education International	For Private & Personal Use Only	www.jainelibrary.org

'आवरणमसव्वग्घं' इत्यादि अर्थात्—सर्वथा प्रकार से ज्ञान और दर्शन को आवृत करने वाली केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण इन प्रकृतियों को छोड़कर शेष रही आवरणद्विक की मति, श्रुत, अवधि, मनपर्यायज्ञानावरण और चक्षु, अचक्षु और अवधिदर्शनावरण तथा पुरुषवेद, संज्वलन क्रोधादि चार और दानान्तराय आदि पांच अन्तराय कुल मिलाकर सत्रह प्रकृतियां चतुःस्थानपरिणत हैं। अर्थात् इन प्रकृतियों में एकस्थानक, द्विस्थानक, त्रिस्थानक और चतुःस्थानक इस तरह चारों प्रकार का रसबंध होता है। जिसका कारण यह है कि श्रेणि पर आरूढ़ होने के पूर्व तक तो इन सत्रह प्रकृतियों का अध्यवसाय के अनुसार द्विस्थानक, त्रिस्थानक अथवा चतुःस्थानक रसबंध होता है लेकिन श्रेणि पर आरूढ़ होने के पश्चात् नौवें अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थान के संख्यात भागों के बीतने पर अत्यन्त विशुद्ध अध्यवसाय के योग से जीव एकस्थानक रस बांधता है। जिससे ये सत्रह प्रकृतियां बंधापेक्षा चतुःस्थान परिणत मानी जाती हैं—'चउट्ठाणपरिणयाओ'।

'दुतिचउठाणाओ सेसाओ' अर्थात् पूर्वोक्त सत्रह प्रकृतियों के सिवाय शेष रही सभी शुभ अथवा अशुभ प्रकृतियों में बंधापेक्षा द्विस्थानक, त्रिस्थानक और चतुःस्थानक रसबंध होता है, किसी भी समय एकस्थानक रसबंध नहीं होता है। इन प्रकृतियों में एकस्थानक रसबंध नहीं होने का कारण यह है—

शुभ और अशुभ के भेद से प्रकृतियां दो प्रकार की हैं। इनमें से अशुभ प्रकृतियों का एकस्थानक रसबंध अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थान के संख्यात भागों के बीतने के पश्चात् सम्भव है, उससे पूर्व नहीं। क्योंकि इससे पहले एकस्थानक रसबंधयोग्य अध्यवसाय होते ही नहीं हैं और जिस समय एकस्थानक रसबंधयोग्य अध्यवसाय सम्भव हैं, उस समय मतिज्ञानावरण आदि पूर्वोक्त सत्रह प्रकृतियों के अलावा अन्य कोई अशुभ प्रकृतियां उनके बंधहेतुओं का विच्छेद हो जाने से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बंधती ही नहीं हैं, मात्र केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण यही दो अशुभ प्रकृतियां बंधती हैं और इनके सर्वघाति होने से अल्पातिअल्प द्विस्थानक रस का ही बंध होता है, एकस्थानक रसबंध नहीं होता है और सर्वघाति प्रकृतियों का जघन्यपद में भी द्विस्थानक रसबंध ही सम्भव है।

अशुभ प्रकृतियों के रसबंध की तो यह दृष्टि है। अब शुभ प्रकृतियों के बारे में बतलाते हैं कि अत्यन्त विशुद्ध परिणाम वाला जीव शुभ प्रकृतियों के चतुःस्थानक रस का बंध करता है, परन्तु त्रिस्थानक अथवा द्विस्थानक रस को नहीं बांधता है और मन्द, मन्दतर विशुद्धि में वर्तमान जीव त्रिस्थानक अथवा द्विस्थानक रस को बांधता है और जब अत्यन्त संक्लिष्ट परिणाम हों तब शुभ प्रकृतियों का बंध होता ही नहीं है। अतः तत्सम्बन्धी रसस्थान के बारे में विचार ही नहीं किया जा सकता है।

प्रश्न—नरकगतिप्रायोग्य कर्मप्रकृतियों को बांधने वाले अति संक्लिष्ट परिणामी जीव को भी वैक्रिय, तैजसशरीर, पचेन्द्रियजाति आदि शुभ प्रकृतियों का बंध होता है। अतः उनके रसस्थानक का विचार करना चाहिए।

उत्तर—नरकगतिप्रायोग्य कर्मप्रकृतियों के बंधक अतिसंक्लिष्ट परिणामी जीव के भी तथास्वभाव से उन प्रकृतियों का द्विस्थानक रस-बंध ही होता है। पुण्य प्रकृतियां होने पर भी उनका एकस्थानक रसबंध नहीं हो पाता है। इस विषयक विशेष स्पष्टीकरण ग्रन्थकार आचार्य स्वयं यथास्थान आगे करने वाले हैं। अतः यहाँ संकेत मात्र किया गया है कि शेष प्रकृतियों में एकस्थानक रसबंध सम्भव न होने से सत्रह प्रकृतियों को छोड़कर शेष प्रकृतियां द्वि, त्रि और चतुः स्थान परिणत हैं।

इस प्रकार से विभागपूर्वक प्रकृतियों के रसस्थानकों का विचार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करने के पश्चात् अब उन स्थानकों के कषाय रूप बंधहेतुओं के प्रकारों को बतलाते हैं।

रसस्थानकबंध के हेतु प्रकार

> उप्पल भूमि बालुय जल रेहासरिस संपराएसु ।
> चउठाणाई असुभाणं सेसयाणं तु वच्चासो ॥३२॥

शब्दार्थ—**उप्पल**—पाषाण-पत्थर, **भूमि**—भूमि, **बालुय**—बालू, रेती, **जल**—जल, पानी, **रेहा**—रेखा, **सरिस**—सदृश, **संपराएसु**—कषायों द्वारा, **चउठाणाई**—चतुःस्थानक आदि, **असुभाणं**—अशुभ प्रकृतियों का, **सेसयाणं**—शेष प्रकृतियों का, **तु**—किन्तु, **वच्चासो**—विपरीतता से।

गाथार्थ—पाषाणरेखा, भूमिरेखा, बालूरेखा और जलरेखा सदृश कषायों द्वारा अशुभ प्रकृतियों का क्रमशः चतुःस्थानक आदि रस बंध होता है किन्तु शुभ प्रकृतियों का कषायों के उक्त क्रम की विपरीतता से समझना चाहिए।

विशेषार्थ—कर्मप्रकृतियों में रसबंध-अनुभागबंध की कारण कषाय हैं। इसी अपेक्षा से ग्रन्थकार आचार्य ने अशुभ और शुभ प्रकृतियों के तीव्रतम आदि रसबंध में हेतुभूत कषायों की स्थिति को उपमा द्वारा स्पष्ट किया है कि अमुक रूपवाली कषाय के द्वारा किस प्रकार का रसबंध होगा।

सर्वप्रथम अशुभ प्रकृतियों के रसस्थानकों के बंध का विचार करते हैं—

'चउठाणाई असुभाणं' अर्थात् अशुभ प्रकृतियों के चतुःस्थानक, त्रिस्थानक, द्विस्थानक और एकस्थानक रस का बंध अनुक्रम से पत्थर, भूमि, बालू और जल में खींची गई रेखा के तुल्यरूप कषायों द्वारा होता होता है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

पत्थर में आई दरार के सदृश अनन्तानुबंधिकषाय के उदय से सभी अशुभ प्रकृतियों का चतुःस्थानक रसबंध होता है। सूर्य के ताप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से सूखने पर तालाब में आई दरारों जैसी अप्रत्याख्यानावरणकषाय के द्वारा त्रिस्थानक रसबंध और बालू के ढेर में खींची गई रेखा जैसी प्रत्याख्यानावरणकषाय के द्वारा द्विस्थानक रसबंध और पानी में खींची गई रेखा जैसी संज्वलन कषाय के द्वारा एकस्थानक रसबंध होता है। लेकिन इतना विशेष है कि एकस्थानक रसबंध मतिज्ञानावरण आदि पूर्वोक्त सत्रह प्रकृतियों का ही समझना चाहिए, सभी अशुभ प्रकृतियों का नहीं होता है।

इस प्रकार से अशुभ प्रकृतियों के रसबंध में कषायहेतुता का रूप समझना चाहिए और शुभ प्रकृतियों के रसबंध में कषायहेतुता का क्रम विपरीत है। जो इस प्रकार है कि पत्थर में आई हुई दरार के समान कषाय के उदय द्वारा पुण्य-शुभ प्रकृतियों का द्विस्थानक रसबंध, सूर्य की गरमी से सूखे तालाब में पड़ी हुई दरारों के सदृश कषाय द्वारा त्रिस्थानक और रेती तथा जल में खींची गई रेखा जैसी कषायों द्वारा चतुःस्थानक रसबंध होता है। इतना विशेष है कि संज्वलन कषायों के द्वारा तीव्र चतुःस्थानक रस बंधता है।

उक्त समग्र कथन का सारांश यह है कि रसबंध कषाय पर आधारित है। कषायों की तीव्रता के अनुरूप अशुभ प्रकृतियों के रसबंध में तीव्रता और शुभ प्रकृतियों के रसबंध में मन्दता तथा जैसे-जैसे कषायों की मंदता, तदनुरूप पाप प्रकृतियों का रसबंध मंद और पुण्य प्रकृतियों का रसबंध तीव्र होता है। चाहे जैसे संक्लिष्ट परिणाम होने पर भी जीवस्वभाव के कारण पुण्य प्रकृतियों में द्विस्थानक रस का ही बंध होता है, एकस्थानक रसबंध होता ही नहीं है। आत्मा स्वभाव से निर्मल है, संक्लिष्ट परिणामों का चाहे जितना उस पर असर हो, लेकिन इतनी निर्मलता तो रहती है कि जिसके द्वारा पुण्य प्रकृतियां कम से कम द्विस्थानक रस वाली ही बंधती हैं।

इस प्रकार शुभाशुभ प्रकृतियों के रसबंध में कषायहेतुता का क्रम समझना चाहिये। अब उपमा द्वारा शुभाशुभ प्रकृतियों के रस का स्वरूप बतलाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुभाशुभ रस की उपमा

घोसाडइनिंबुवमो असुभाण सुभाण खीरखंडुवमो ।
एगट्ठाणो उ रसो अणंतगुणिया कमेणियरा ।।३३।।

शब्दार्थ—घोसाइड—घोषातकी-कड़वी तूंबड़ी, **निंबुवमो**—नीम के रस की उपमा वाला, **असुभाण**—अशुभ प्रकृतियों का, **सुभाण**—शुभ प्रकृतियों का, **खीरखंडुवमो**—क्षीर, दूध, खांड के रस की उपमावाला, **एगट्ठाणो**—एक स्थानक, उ—और, **रसो**—रस, **अणंतगुणिया**—अनन्तगुणित, **कमेण**—क्रम से, इयरा—इतर, द्विस्थानक आदि ।

गाथार्थ—अशुभ प्रकृतियों का एकस्थानक रस भी घोषातकी और नीम के रस की उपमा वाला है और शुभ प्रकृतियों का क्षीर और खांड की उपमा वाला है और उस एकस्थानक रस से इतर—द्विस्थानक आदि रस क्रमशः अनन्तगुणित जानना चाहिए ।

विशेषार्थ—गाथा में अशुभ और शुभ प्रकृतियों के रस की उपमेय पदार्थों के साथ तुलना की है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

अशुभ प्रकृतियों का एकस्थानक रस घोषातकी, कड़वी तूंबड़ी और नीम के रस की उपमा वाला है और विपाक में अति कड़वा होता है तथा शुभ प्रकृतियों का एकस्थानक रस के जैसा प्रारम्भ का—शुरुआत का द्विस्थानक रस खीर और खांड के रस की उपमा वाला, मन के परम आह्लाद का हेतु और विपाक में मिष्ट होता है तथा उस एकस्थानक रस से इतर द्विस्थानकादि रस अनुक्रम से अनन्तगुण तीव्र समझना चाहिये—'अणंतगुणिया कमेणियरा'। वह इस प्रकार कि एकस्थानक रस से द्विस्थानक रस अनन्तगुणा तीव्र है और उस द्विस्थानक रस से त्रिस्थानक रस एवं त्रिस्थानक रस से चतुःस्थानक रस उत्तरोत्तर अनन्त-गुण तीव्र समझना चाहिये। इसका कारण यह है कि जैसे एकस्थानक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रस के भी मंद, अतिमंद आदि अनन्त भेद होते हैं, उसी प्रकार द्विस्थानकादि प्रत्येक के भी अनन्त भेद होते हैं।

इन प्रत्येक रसस्थानक के अनन्त भेदों में से अशुभ प्रकृतियों का सर्वजघन्य एकस्थानक रस भी नीम, घोषातकी के रस की उपमा वला है और, शुभप्रकृतियों का सर्वजघन्य द्विस्थानक रस क्षीर (दूध) और खांड के स्वाभाविक रस की उपमावाला है। शेष अशुभ प्रकृतियों के एकस्थानक रसयुक्त स्पर्धक और शुभ प्रकृतियों के द्विस्थानक रसयुक्त स्पर्धक अनुक्रम से अनन्तगुणित शक्तिवाले हैं और उनसे भी अशुभ प्रकृतियों के द्विस्थानक, त्रिस्थानक और चतुःस्थानक रसवाले स्पर्धक और शुभ प्रकृतियों के त्रिस्थानक और चतुःस्थानक रस वाले स्पर्धक अनुक्रम से अनन्तगुण शक्ति वाले समझना चाहिए।

इस प्रकार से घाति-देशघाति और शुभ-अशुभ प्रकृतियों सम्बन्धी आवश्यक विवेचन करने के पश्चात् अब द्वारों के नामोल्लेख करने के प्रसंग में गाथा में आगत 'च' शब्द से संकलित प्रकृतियों की सत्ता की ध्रुवाध्रुवरूपता बतलाते हैं।

ध्रुवाध्रुवसत्ताका प्रकृतियां

उच्चं तित्थं सम्मं मीसं वेउव्विछक्कमाऊणि।
मणुदुग आहारदुगं अट्ठारस अधुवसंताओ ॥३४॥

शब्दार्थ—**उच्चं**—उच्चगोत्र, **तित्थं**—तीर्थंकरनाम, **सम्मं**—सम्यक्त्व, **मीसं**—मिश्रमोहनीय, **वेउव्विछक्कं**—वैक्रियषट्क, **आऊणि**—आयुचतुष्क, **मणुदुग**—मनुष्यद्विक, **आहारदुगं**—आहारद्विक, **अट्ठारस**—अठारह प्रकृतियां, **अधुवसंताओ**—अध्रुवसत्ताका।

गाथार्थ—उच्चगोत्र, तीर्थंकरनाम, सम्यक्त्व एवं मिश्रमोहनीय, वैक्रियषट्क, आयुचतुष्क, मनुष्यद्विक और आहारकद्विक ये अठारह प्रकृतियां अध्रुवसत्ताका हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ—गाथा में अध्रुवसत्ता वाली अठारह प्रकृतियों के नाम बतलाये हैं। इसका आशय हुआ कि सत्तायोग्य एक सौ अड़तालीस प्रकृतियों में से गाथोक्त अठारह प्रकृतियां अध्रुवसत्ता वाली और शेष प्रकृतियां ध्रुवसत्तावाली हैं। अध्रुवसत्ताका और ध्रुवसत्ताका के लक्षण इस प्रकार हैं—

जो कभी सत्ता में होती हैं और किसी समय नहीं होती हैं ऐसी अनियत सत्तावाली प्रकृतियों को अध्रुवसत्ताका और अपने-अपने विच्छेद के पूर्व तक जिनकी नियत, निश्चित रूप से सत्ता पाई जाती है, ऐसी प्रकृतियों को ध्रुवसत्ताका कहते हैं।

अध्रुवसत्ताका प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

उच्चगोत्र, तीर्थंकरनाम, सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, देवगति, देवानुपूर्वी, नरकगति, नरकानुपूर्वी, वैक्रियशरीर और वैक्रिय-अंगोपांग रूप वैक्रियषट्क, नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु, देवायु, मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी रूप मनुष्यद्विक, आहारकशरीर, आहारक-अंगोपांग रूप आहारकद्विक।

ये अठारह प्रकृतियां किसी समय सत्ता में होती हैं और किसी समय सत्ता में नहीं होती हैं।

इन अठारह प्रकृतियों को अध्रुवसत्ताका मानने का कारण यह है—

उच्चगोत्र और वैक्रियषट्क ये सात प्रकृतियां जब तक जीव त्रस-पर्याय प्राप्त किया हुआ नहीं होता है तब तक सत्ता में नहीं होती हैं। त्रसावस्था के प्राप्त होने पर इनका बंध करता है, यानी सत्ता में होती हैं। इस प्रकार से सभी जीवों के इनकी सत्ता प्राप्त नहीं होने से ये प्रकृतियां अध्रुवसत्ता वाली मानी गई हैं। अथवा त्रस अवस्था में बंध के द्वारा सत्ता प्राप्त हो भी जाये, लेकिन स्थावरभाव को प्राप्त जीव अवस्थाविशेष (स्थावर-अवस्था) को प्राप्त करके इनकी उद्‌वलना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर देता है। इसलिए ये उच्चगोत्र आदि सात प्रकृतियां अध्रुव-सत्ताका हैं।

सम्यक्त्वमोहनीय और सम्यग्मिथ्यात्वमोहनीय ये दो प्रकृतियां जब तक तथाविध भव्यत्वभाव का परिपाक और सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होता है तब तक सत्ता में प्राप्त नहीं होती हैं। तथाविध भव्यत्वभाव के परिपाक एवं सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर ही इनकी सत्ता होती है। अथवा सत्ता में प्राप्त होने पर भी मिथ्यात्व में पहुंचा हुआ जीव इनकी उद्वलना कर देता है और अभव्य को तो इनकी सत्ता होती ही नहीं है। इसलिये ये दोनों प्रकृतियां भी अध्रुवसत्ता वाली हैं।

तीर्थंकरनामकर्म की सत्ता भी तथाप्रकार की विशिष्ट विशुद्धि से युक्त सम्यक्त्व के सद्भाव में होती है और आहारकद्विक का बंध भी तथारूप संयम के होने पर होता है, किन्तु संयम के अभाव में बंध नहीं होता है। यदि हो भी जाये तो अविरत रूप निमित्त से उद्वलना हो जाती है। मनुष्यद्विक की भी तेजस्काय और वायुकाय में गया जीव उद्वलना कर देता है। इसलिए ये तीर्थंकरनाम आदि पांच प्रकृतियां अध्रुवसत्ताका हैं।

देवभव में नरकायु की, नारकभव में देवायु की, आनतादि स्वर्गों के देवों में तिर्यंचायु की, तेजस्कायिक, वायुकायिक और सप्तम नरक के नारकों के मनुष्यायु की सत्ता होती ही नहीं है। अतः आयुचतुष्क प्रकृतियाँ अध्रुवसत्ता वाली हैं।

प्रश्न—अनन्तानुबंधि कषायों की उद्वलना सम्भव होने से सत्ता का नाश होने के पश्चात् पुनः मिथ्यात्व के निमित्त से बंध होने पर अनन्तानुबंधि कषायों की सत्ता प्राप्त हो जाती है। अतः उनको अध्रुव-सत्ताका मानना चाहिए। किन्तु उनको ध्रुवसत्ताका क्यों माना गया है?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तर—अनन्तानुबंधि कषायों को ध्रुवसत्ता वाली मानने का कारण यह है कि जो कर्मप्रकृतियां किसी प्रतिनियत अवस्था के आश्रय से बंधती हैं परन्तु सदैव नहीं बंधती हैं और सम्यक्त्वादि विशिष्ट गुण की प्राप्ति के बिना तथाप्रकार के भवप्रत्ययादि कारण के योग से उद्वलनयोग्य होती हैं, उन्हें अध्रुवसत्ता वाली माना है लेकिन जो कर्मप्रकृतियां सर्वदा सभी जीवों को बंधती हैं और विशिष्ट गुण की प्राप्ति पूर्वक उद्वलनयोग्य होती हैं, उनको अध्रुवसत्ता वाला नहीं माना है। क्योंकि उनकी उद्वलना में विशिष्ट गुण की प्राप्ति हेतु है और विशिष्ट गुण की प्राप्ति के द्वारा तो सभी कर्मों की सत्ता का नाश होता है। लेकिन अनन्तानुबंधि कषायों की सत्ता सम्यक्त्वादि विशिष्ट गुण की प्राप्ति के बिना तो सब जीवों को सदैव होती है, उनकी उद्वलना में सम्यक्त्वादि विशिष्ट गुण की प्राप्ति हेतु है, परन्तु सामान्य से भवादि हेतु नहीं हैं, जिससे उनकी अध्रुव सत्ता नहीं किन्तु ध्रुव सत्ता ही है।[1] तथा उच्चगोत्रादि प्रकृतियां त्रसत्व आदि विशिष्ट अवस्था की प्राप्ति होने पर बंधती हैं और तथाविध विशिष्ट गुण की प्राप्ति के बिना ही स्थावरादि अवस्था में जाने पर उद्वलनयोग्य होती हैं। इसीलिये वे अध्रुवसत्ता वाली हैं।

पूर्वोक्त अठारह प्रकृतियों के सिवाय शेष रही एक सौ तीस सत्ता-

१ उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि जीवों के अनन्तानुबंधि कषायों का उद्वलन होता है, किन्तु अध्रुवसत्ताकत्व का विचार उन्हीं जीवों की अपेक्षा किया है, जिन्होंने सम्यक्त्व आदि उत्तरगुणों को प्राप्त नहीं किया है। यदि उत्तरगुणों की प्राप्ति की अपेक्षा से अध्रुवसत्ताकत्व को माना जायेगा तो केवल अनंतानुबंधि कषायें ही नहीं अन्य सभी प्रकृतियां भी अध्रुवसत्ताका कहलायेंगी। क्योंकि उत्तरगुणों के होने पर तो सभी प्रकृतियां अपने-अपने योग्य स्थान में सत्ता से विच्छिन्न हो जाती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योग्य प्रकृतियां ध्रुवसत्ताका हैं।[1] जिनके नाम इस प्रकार हैं— त्रसदशक, स्थावरदर्शक, वर्णादिबीस, तैजसशरीर, कार्मण शरीर, तैजस-तैजसबंधन, तैजस-कार्मणबंधन, कार्मण-कार्मण-बंधन, तैजस-संघातन और कार्मण-संघातन रूप तैजस-कार्मण सप्तक और ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों में से वर्णचतुष्क, तंजस, कार्मण के सिवाय शेष इकतालीस प्रकृतियां, वेदत्रिक, संस्थानषट्क, संहनन-षट्क, जातिपंचक, साता-असातावेदनीयद्विक, हास्य-रति युगल, अरति-शोक युगल, औदारिकशरीर, औदारिक अंगोपांग, औदारिक संघातन, औदारिक-औदारिकबंधन, औदारिक-तैजसबंधन, औदारिक-कार्मण बंधन और औदारिक-तैजस-कार्मणबंधन रूप औदारिक सप्तक, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, पराघात, विहायोगतिद्विक, तिर्यंच-द्विक और नीच गोत्र। ये एक सौ तीस प्रकृतियां सम्यक्त्व-लाभ से पहले-पहले सभी प्राणियों में सदैव सम्भव होने से ध्रुवसत्ता वाली कहलाती हैं।

इस प्रकार से ध्रुव और अध्रुव सत्ताका प्रकृतियां जानना चाहिए। अब पूर्व गाथा के संकेतानुसार उद्वलन योग्य प्रकृतियां बतलाते हैं—

---

१ यहाँ एक सौ अड़तालीस की गणनापेक्षा एक सौ तीस प्रकृतियां ली हैं। यदि पांच बंधन ग्रहण करें तो एक सौ छब्बीस प्रकृतियां होती हैं। ग्रन्थकार आचार्य ने स्वोपज्ञ टीका में अध्रुव सत्ता में अठारह और ध्रुव-सत्ता में एक सौ चार प्रकृतियां ग्रहण की हैं। जिसमें उदय की विवक्षा की है। सत्ता की दृष्टि से गिनें तो अध्रुव सत्ता में बाईस और ध्रुव सत्ता में एक सौ छब्बीस होती हैं। पूर्वोक्त अठारह में आहारक बंधन, संघातन और वैक्रिय बंधन, संघातन इन चार को मिलाने पर बाईस होती हैं। शेष एक सौ छब्बीस ध्रुवसत्ता में होती है। पन्द्रह बंधन के हिसाब से पूर्वोक्त अठारह में आहारक के चार बंधन, एक संघातन और वैक्रिय के चार बंधन और एक संघातन मिलाने पर अट्ठाईस अध्रुव सत्ता में और शेष एक सौ तीस ध्रुव सत्ता में होती हैं।

Jain Education International　　For Private & Personal Use Only　　www.jainelibrary.org

उद्वलन प्रकृतियां

पढमकसायसमेया एयाओ आउतित्थवज्जाओ ।
सत्तरसुव्वलणाओ तिगेसु गतिआणुपुव्वाऊ ॥३५॥

शब्दार्थ—पढमकसायसमेया—प्रथम कषाय (अनन्तानुबंधिकषाय) सहित, **एयाओ**—ये, **आउतित्थवज्जाओ**—आयुचतुष्क और तीर्थंकरनाम को छोड़कर, **सत्तरस**—सत्रह, **उव्वलणाओ**—उद्वलनयोग्य, **तिगेसु**—त्रिक में, **गतिआणुपुव्वाऊ**—गति, आनुपूर्वी और आयु ।

गाथार्थ—आयुचतुष्क और तीर्थंकरनाम को छोड़कर प्रथम कषाय युक्त सत्रह प्रकृतियां उद्वलनयोग्य हैं। त्रिक के संकेत से गति, आनुपूर्वी और आयु इन तीन का ग्रहण करना चाहिए ।

विशेषार्थ—गाथा में उद्वलनयोग्य प्रकृतियां बतलाई है। उद्वलनयोग्य प्रकृतियां दो प्रकार की हैं—१—श्रेणि पर आरोहण करने के पूर्व और २ श्रेणि पर आरोहण करने के पश्चात् उद्वलनयोग्य। इनमें से श्रेणि पर आरोहण करने के पश्चात् उद्वलन-योग्य प्रकृतियों को प्रदेशसंक्रम अधिकार में यथाप्रसंग बतलाया जायेगा।[1] लेकिन यहाँ सामान्य से श्रेणि पर आरोहण करने से पूर्व की उद्वलन प्रकृतियों को बतलाया है कि पूर्व गाथा में बताई गई अठारह अध्रुवसत्ताका प्रकृतियों में से आयुचतुष्क और तीर्थंकर नाम इन पांच प्रकृतियों को कम करने से शेष रही तेरह प्रकृतियों में अनन्तानुबंधि-

---

१ श्रेणि में उद्वलन-योग्य प्रकृतियां इस प्रकार हैं—अप्रत्याख्यानावरणादि संज्वलन लोभ के बिना ग्यारह कषाय, नव नोकषाय, स्त्यानर्द्धित्रिक, स्थावरद्विक, तिर्यंचद्विक, नरकद्विक, आतपद्विक, एकेन्द्रियादिजाति-चतुष्क और साधारणनामकर्म ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चतुष्क को मिलाने पर कुल सत्रह प्रकृतियां उद्वलनयोग्य हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं—

१. उच्चगोत्र, २. सम्यक्त्व, ३. मिश्रमोहनीय, ४. देवगति, ५. देवानुपूर्वी, ६. नरकगति, ७. नरकानुपूर्वी, ८. वैक्रियशरीर, ९. वैक्रिय-अंगोपांग, १०. मनुष्यगति, ११. मनुष्यानुपूर्वी, १२. आहारकशरीर, १३. आहारक अंगोपांग, १४-१७. अनन्तानुबंधि क्रोध-मान-माया-लोभ।

इनमें से अनन्तानुबंधिचतुष्क और आहारकद्विक को छोड़कर शेष ग्यारह प्रकृतियों की उद्वलना पहले मिथ्यात्वगुणस्थान में होती है तथा अनन्तानुबंधिकषायचतुष्क की उद्वलना चौथे से सातवें गुण-स्थान पर्यन्त और आहारकद्विक की उद्वलना अविरतपने में होती है।

अब संज्ञाविशेष में ग्रहण की जाती प्रकृतियों के विषय में संकेत करते हैं कि 'तिगेसु'—अर्थात् जहाँ कहीं भी देवत्रिक, मनुष्यत्रिक इस प्रकार त्रिक का उल्लेख हो, वहाँ उसकी गति, आनुपूर्वी और आयु का ग्रहण समझना चाहिए। जैसे कि मनुष्यत्रिक में मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी और मनुष्यायु ये तीन प्रकृतियां गर्भित हैं। इसी प्रकार देवत्रिक, तिर्यंचत्रिक और नरकत्रिक के लिए भी जानना चाहिए। इसी तरह अन्यत्र भी संज्ञाविशेषों द्वारा उन-उनमें गर्भित प्रकृतियों को समझ लेना चाहिए।

इस प्रकार से अभी तक प्रतिपक्ष सहित ध्रुवबंधिनी, ध्रुवोदया, सर्वघातिनी, परावर्तमान, अशुभ और ध्रुवसत्ताका आदि विभागों में कर्मप्रकृतियों का वर्गीकरण करके तत्तत् वर्ग में संकलित प्रकृतियों को तो बतला दिया है—लेकिन उन विभागों के लक्षण नहीं बतलाये। अतः अब ग्रन्थकार आचार्य यथाक्रम से उनके लक्षण बतलाते हैं। सबसे पहले ध्रुवबंधि और अध्रुवबंधि पद का अर्थ स्पष्ट करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्रुव-अध्रुवबंधि पद का अर्थ

नियहेउ संभवेवि हु भयणिज्जो होइ जाण पयडीणं ।
बंधो ता अधुवाओ धुवा अभयणीयबंधाओ ।।३६।।

शब्दार्थ—नियहेउ—अपने बंधहेतु के, **संभवेवि**—संभव होने पर, **हु**—भी, **भयणिज्जो**—भजनीय, भजना से, **होइ**—होता है, **जाण**—जिनका, **पयडीणं**—प्रकृतियों का, **बंधो**—बंध, **ता**—वे, **अधुवाओ**—अध्रुव, **धुवा**—ध्रुव, **अभयणीय**—अभजनीय, निश्चित, **बंधाओ**—बंध ।

गाथार्थ—अपने बंधहेतु के सम्भव होने पर भी जिन प्रकृतियों का बंध भजना से होता है, वे अध्रुवबंधिनी और जिनका बंध निश्चित है, वे ध्रुवबंधिनी कहलाती हैं ।

विशेषार्थ—गाथा में अध्रुवबंधित्व और ध्रुवबंधित्व का स्वरूप बतलाया है । उनमें से पहले अध्रुवबंधित्व का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है—

'नियहेउ संभवेवि' इत्यादि अर्थात् जिन प्रकृतियों का बंध अपने मिथ्यात्वादि सामान्य बंधहेतुओं[1] के विद्यमान रहते भी भजनीय होता है यानी सामान्य बंधहेतुओं के सद्भाव में भी जिनका किसी समय बंध होता है और किसी समय नहीं भी होता है, ऐसी प्रकृतियां अध्रुवबंधिनी कहलाती हैं । उन प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

औदारिकद्विक, वैक्रियद्विक, आहारकद्विक, गतिचतुष्क, जातिपंचक, विहायोगतिद्विक, आनुपूर्वीचतुष्क, संस्थानषट्क, संहननषट्क, त्रसादि

---

१ जिन प्रकृतियों के जो-जो विशेष बंधहेतु हैं, वे बंधहेतु जब प्राप्त हों तब-तब उन-उन प्रकृतियों का बंध अवश्य होता है, चाहे फिर वे अध्रुवबंधिनी हों । इसीलिए यहाँ ध्रुवाध्रुवबंधित्व में सामान्य बंधहेतुओं की विवक्षा की है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बीस (त्रसदशक, स्थावरदशक) उच्छ्वासनाम, तीर्थंकरनाम, आतपनाम, उद्योतनाम, पराघातनाम, साता-असातावेदनीयद्विक, आयुचतुष्क, गोत्रद्विक (उच्चगोत्र, नीचगोत्र), हास्य-रति और अरति-शोक, वेदत्रिक। कुल मिलाकर ये तिहत्तर प्रकृतियां अध्रुवबंधिनी हैं और इनको अध्रुवबंधिनी मानने का कारण यह है कि सामान्य बंधहेतुओं के प्राप्त होने पर भी इनका विकल्प से—भजना से बंध होता है। अर्थात् अवश्य बंध हो ऐसी नहीं होने से ये प्रकृतियां अध्रुवबंधिनी मानी जाती हैं।

जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

पराघातनाम और उच्छ्वासनामकर्म के अविरत आदि अपने बंधहेतुओं के होने पर भी जब पर्याप्त नामकर्म के योग्य कर्मप्रकृतियों का बंध हो तभी इनका बंध होता है, अपर्याप्तयोग्य कर्मबंध होने की स्थिति में ये प्रकृतियां नहीं बंधती हैं। आतपनाम एकेन्द्रिययोग्य प्रकृतियों का बंध होने पर बंधती हैं, शेषकाल में इसका बंध नहीं होता है।

तीर्थंकरनाम और आहारकद्विक के अनुक्रम से सम्यक्त्व और संयमरूप अपने-अपने सामान्य बंधहेतु होने पर भी किसी समय इनका बंध होता है। प्रत्येक सम्यग्दृष्टि और संयमी इनका बंध नहीं करता है। किन्तु तथाप्रकार की पारिणामिक योग्यता होने पर इनका बंध सम्भव होने से ये तीनों प्रकृतियां अध्रुवबंधिनी मानी जाती हैं।

पूर्वोक्त से शेष रही औदारिकद्विक आदि सड़सठ प्रकृतियां अपने-अपने सामान्य बंधहेतुओं का सद्भाव होने पर भी परस्पर विरोधी होने से निरन्तर नहीं बंधने के कारण अध्रुवबंधिनी हैं।

इस प्रकार औदारिकद्विक आदि वेदत्रिक पर्यन्त तिहत्तर प्रकृतियां अध्रुवबंधिनी जानना चाहिए और जो अपने सामान्य बंधहेतुओं के होने पर अवश्य बंधती हैं वे 'धुवा अभयणीयबंधाओ'—ध्रुवबंधिनी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकृतियां कहलाती हैं। ऐसी मतिज्ञानावरणादि सैंतालीस प्रकृतियों के नाम पूर्व में बतलाये जा चुके हैं।[1]

ध्रुवाध्रुवबंधित्व पद का अर्थ बतलाने के पश्चात् अब ध्रुवाध्रुवोदयित्व पद का अर्थ बतलाने के लिए पहले उदयहेतुओं का निर्देश करते हैं—

उदयहेतु

दव्वं खेत्तं कालो भवो य भावो य हेयवो पंच।
हेउसमासेणुदओ जायइ सव्वाण पगईणं ॥३७॥

शब्दार्थ—**दव्वं**—द्रव्य, **खेत्तं**—क्षेत्र, **कालो**—काल, **भवो**—भव, **य**—और, **भावो**—भाव, **य**—और, **हेयवो**—हेतु, **पंच**—पांच, **हेउसमासेण**—हेतुओं के समुदाय द्वारा, **उदओ**—उदय, **जायइ**—होता है, **सव्वाण**—सभी, **पगईणं**—प्रकृतियों का।

गाथार्थ—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव ये पांच उदयहेतु हैं। इन हेतुओं के समुदाय द्वारा सभी कर्मप्रकृतियों का उदय होता है।

विशेषार्थ—कर्मसिद्धान्त में जैसे सभी कर्मप्रकृतियों के सामान्य बंधहेतुओं का विचार किया गया है, उसी प्रकार से उदयहेतु भी बतलाये हैं—

'दव्वं खेत्तं कालो' इत्यादि अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव ये पांच सामान्य से सभी कर्मप्रकृतियों के उदय के लिए समुदाय रूप में हेतु हैं। इनमें कर्म के पुद्गल द्रव्य हैं, अथवा तथाप्रकार का कोई भी बाह्य कारण कि जो उदय होने में हेतु हो। जैसे कि सुने जा

---

१ गाथा १५ के विशेषार्थ में ध्रुवबंधिनी प्रकृतियों के नाम और उनके ध्रुवबंधित्व के कारण को स्पष्ट किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहे दुर्भाषित भाषावर्गणा के पुद्गल क्रोध के उदय के कारण हैं, उसी प्रकार इसी तरह के और दूसरे भी पुद्गल, जो कर्म के उदय में हेतु होते हैं, उन्हें द्रव्य कहते हैं। इसी प्रकार आकाशप्रदेश रूप क्षेत्र, समयादि रूप काल, मनुष्यभव आदि रूप भव और जीव के परिणामविशेष रूप भाव, ये सभी हेतु कर्मप्रकृतियों के उदय में कारण हैं। लेकिन ये पांचों पृथक्-पृथक् उदय के हेतु नहीं हैं किन्तु 'हेउसमासेणुदओ'—पांचों का समूह—समुदाय कारण है।

उक्त कथन का आशय यह है कि द्रव्यादि पांचों हेतुओं का समुदाय—पांच का परस्पर सहयोग मिलने पर सभी प्रकृतियों का उदय होता है। एक ही प्रकार के एक जैसे द्रव्यादि हेतु सभी कर्मप्रकृतियों के उदय में कारण रूप नहीं होते हैं, परन्तु भिन्न-भिन्न प्रकार के द्रव्यादि हेतु कारण होते हैं। कोई एक द्रव्यादि सामग्री किसी प्रकृति के उदय में हेतु होती है, और कोई सामग्री किसी के उदय में। लेकिन यह निश्चित है कि द्रव्य, क्षेत्र आदि पांचों का संयोग मिलने पर, समुदाय होने पर ही प्रत्येक कर्मप्रकृति उदय में आकर अपना वेदन करायेगी।

इस प्रकार से उदयहेतुओं को बतलाने के पश्चात् अब उदयाश्रयी ध्रुवाध्रुवत्व पद का अर्थ स्पष्ट करते हैं।

ध्रुवाध्रुवोदयत्व का अर्थ

अव्वोच्छिन्नो उदओ जाणं पगईण ता धुवोदइया।
वोच्छिन्नोवि हु संभवइ जाण अधुवोदया ताओ ॥३८॥

शब्दार्थ—**अव्वोच्छिन्नो**—अव्यवच्छिन्न—निरन्तर, **उदओ**—उदय, **जाणं**—जिनका, **पगईण**—प्रकृतियों का, **ता**—वे, **धुवोदइया**—ध्रुवोदया, **वोच्छिन्नोवि**—विच्छिन्न हो जाने पर भी, **हु**—निश्चित, **संभवइ**—सम्भव हो, **जाण**—जिनका, **अधुवोदया**—अध्रुवोदया, **ताओ**—वे।

गाथार्थ—जिन प्रकृतियों का अव्यवच्छिन्न—निरन्तर उदय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, उन्हें ध्रुवोदया और विच्छिन्न हो जाने पर भी जिन प्रकृतियों का उदय सम्भव है, वे अध्रुवोदया जानना चाहिये।

विशेषार्थ—गाथा में ध्रुवोदयत्व और अध्रुवोदयत्व की लाक्षणिक व्याख्या की है कि जिन कर्मप्रकृतियों का अपने उदयविच्छेदकाल पर्यन्त निरन्तर उदय हो, ऐसी प्रकृतियां ध्रुवोदया कहलाती हैं और उदयविच्छेदकाल में उदय का नाश होने पर भी तथाप्रकार की द्रव्यादि सामग्री रूप हेतु के प्राप्त होने पर पुनः जिन प्रकृतियों का उदय होता है, उदय होने लगता है, वे अध्रुवोदया प्रकृतियां हैं।

ध्रुवोदया प्रकृतियां सत्ताईस और अध्रुवोदया पंचानवै हैं। इन दोनों प्रकार की प्रकृतियों के नाम पूर्व में (गाथा १६ की व्याख्या के प्रसंग में) बतलाये जा चुके हैं।

इस प्रकार से ध्रुवोदया-अध्रुवोदया पद का अर्थ जानना चाहिये। अब क्रमप्राप्त सर्वघाति, देशघाति, शुभ और अशुभ पद का स्वरूप बतलाते हैं।

सर्वघाति आदि पदों का अर्थ

असुभसुभत्तणघाइत्तणाइं रसभेयओ मुणिज्जाहि ।
सविसयघायभेएण वावि घाइत्तण नेयं ॥३६॥

शब्दार्थ—**असुभसुभत्तण**—अशुभत्व और शुभत्व, **घाइत्तणाइ**—घातित्व आदि, **रसभेयओ**—रसभेदों से, **मुणिज्जाहि**—जानो, **सविसयघायभेएण**—स्वविषय को घात करने के भेद से, **वावि**—अथवा, **घाइत्तणं**—घातित्व, **नेयं**—जानना चाहिये।

गाथार्थ—अशुभत्व, शुभत्व और घातित्व रस के भेद से जानो अथवा स्व—अपने विषय को घात करने के भेद से घातित्व जानना चाहिये।

विशेषार्थ—गाथा में अशुभत्व, शुभत्व और घातित्व के कारण को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बताते हुए उनका लक्षण बतलाया है कि कर्मप्रकृतियों में अशुभत्व, शुभत्व तथा सर्व एवं देश की अपेक्षा घातित्व का कारण रसभेद है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सर्वघातिपना, देशघातिपना और शुभत्व, अशुभत्व जीव के अध्यवसायों के अनुसार कर्मप्रकृतियों में निष्पन्न विपाकवेदन की शक्ति, योग्यता पर आधारित है। वह इस प्रकार जानना चाहिये कि जो कर्मप्रकृतियां विपाक में अत्यन्त कटुक रसवाली होती हैं, वे अशुभ और जो प्रकृतियां जीव को प्रमोद—आनन्द में हेतुभूत रस वाली होती हैं, वे प्रकृतियां शुभ कहलाती हैं।

इसी प्रकार सर्वघातित्व और देशघातित्व के आशय को स्पष्ट करने के लिए भी रसभेद हेतु है कि जो प्रकृतियां सर्वघातिरसस्पर्धक युक्त होती हैं, वे सर्वघाति और जो कर्मप्रकृतियां देशघातिरसस्पर्धक युक्त होती हैं वे देशघाति कहलाती हैं। अथवा प्रकारान्तर से सर्व-घातित्व और देशघातित्व के व्यपदेश का हेतु यह है—

'सविसयघायभेएण'—स्वविषय को घात करने की योग्यता के भेद से। अर्थात् आत्मा के ज्ञानादि गुण स्वविषय हैं, अतः जो कर्म-प्रकृतियां ज्ञानादि रूप अपने विषय का सर्वथा प्रकार से घात करती हैं, वे सर्वघाति एवं जो प्रकृतियां अपने विषय के एकदेश का घात करती हैं, वे देशघाति कहलाती हैं।

उक्त शुभत्व आदि पदों के अर्थ का सारांश यह है—

जिन प्रकृतियों का विपाक दुःखदायक एवं संक्लेशभाव को बढ़ाने वाला हो वे प्रकृतियां अशुभ और मनः प्रासाद की उत्तेजक, पुण्यार्जन में प्रवृत्त करने वाली भावना को सबल बनाने में कारणभूत प्रकृतियां शुभ कहलाती हैं।

जीव के गुणों को पूरी तरह से घातने का जिस अनुभाग का स्वभाव है अर्थात् सर्वप्रकार से आत्मगुणप्रच्छादक कर्मों की शक्तियां सर्वघाती और विवक्षित एकदेश रूप से आत्मगुणप्रच्छादक शक्तियां देशघाती कहलाती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुभ और अशुभ, सर्वघाति और देशघाति प्रकृतियों के नाम पूर्व में बताये जाने से यहाँ पुनः उल्लेख नहीं किया है।

इस प्रकार से अशुभ, शुभ, सर्वघाति, देशघाति पद का अर्थ जानना चाहिये। अब पहले जो रस के भेद से सर्वघातित्व-देशघातित्व का अर्थ स्पष्ट किया है, उसी सर्वघाति और देशघाति रस का स्वरूप बतलाते हैं।

सर्व-देशघाति रस का स्वरूप

जो घाएइ सविसयं सयलं सो होइ सव्वघाइरसो।
सो निच्छिद्दो निद्धो तणुओ फलिहब्भहरविमलो ॥४०॥
देसविघाइत्तणओ इयरो कडकंबलंसुसंकासो।
विविहबहुछिद्दभरिओ अप्पसिणेहो अविमलो य ॥४१॥

शब्दार्थ—**जो**—जो, **घाएइ**—घात करता है, **सविसयं**—अपने विषय को, **सयलं**—पूर्ण रूप से, **सो**—वह, **होइ**—है, **सव्वघाइरसो**—सर्वघाति रस, **सो**—वह, **निच्छिद्दो**—छिद्र रहित, **निद्धो**—स्निग्ध, **तणुओ**—पतला, महीन, **फलिहब्भहर**—स्फटिक तथा अभ्रक की परत, **विमलो**—निर्मल।

देसविघाइत्तणो—देशघाति होने से, **इयरो**—इतर (देशघाति) **कडकंबलंसुसंकासो**—कट (चटाई), कंबल, अंशुक (रेशमी कपड़ा) के समान, **विविहबहुछिद्दभरिओ**—अनेक प्रकार के छिद्रों से व्याप्त, **अप्पसिणेहो**—अल्प स्नेह युक्त, **अविमलो**—निर्मलता से रहित, **य**—और।

गाथार्थ—जो रस अपने विषय को पूर्ण रूप से घात करता है, वह रस सर्वघाति कहलाता है। वह रस छिद्र रहित—निश्छिद्र, स्निग्ध, पतला, महीन और स्फटिक तथा अभ्रक की परत जैसा निर्मल है।

इतर—देशघाति होने से कट (चटाई), कंबल और अंशुक—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रेशमी वस्त्र के समान, अनेक प्रकार के छिद्रों से व्याप्त, अल्प स्नेह युक्त और निर्मलता से रहित होता है।

विशेषार्थ—उक्त दो गाथाओं में सर्वघाति और देशघाति रस का स्वरूप तद्योग्य उपमेय पदार्थों की उपमा द्वारा स्पष्ट किया है। सर्व-प्रथम सर्वघाति रूप रस के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं—

जो रस ज्ञानादि-विषय को पूर्णतया आवृत करता है, घात करता है, समग्र रूप से स्वविषय को जानने आदि रूप कार्य को सिद्ध करने में असमर्थ करता है अर्थात् जिसके कारण ज्ञानादि गुण जानने आदि रूप कार्य सिद्ध न कर सकें, वह रस सर्वघाति कहलाता है। यहाँ रस शब्द से केवल रस नहीं परन्तु रसस्पर्धकों को ग्रहण किया है। जिसका स्पष्टीकरण आगे किया है।

अब इसी लक्षण को उपमा रूपक द्वारा स्पष्ट करते हैं कि तांबे के बर्तन के समान निश्छिद्र—छिद्ररहित, घी आदि के सदृश अतिशय स्निग्ध—चिकना, दाख आदि की तरह अत्यन्त पतले—महीन प्रदेशों से उपचित—बना हुआ और स्फटिक अथवा अभ्रक की परत जैसा निर्मल होता है।

इस प्रकार से सर्वघाति रस का स्वरूप बतलाने के पश्चात् अब देशघाति रस—देशघाति-रसस्पर्धकों के समूह का स्वरूप स्पष्ट करते हैं—

इतर देशघाति रस अपने विषय के एकदेश का घात करने वाला होने से देशघाति कहलाता है—'देसविघाइत्तणओ इयरो' और वह अनेक प्रकार से छोटे-बड़े, सूक्ष्म-सूक्ष्मतर छिद्रों से व्याप्त है। जिसको इस प्रकार की उपमाओं द्वारा बतलाया है कि कोई बांस से निर्मित चटाई के समान अतिस्थूल सैकड़ों छिद्रों से युक्त होता है, कोई कंबल की तरह मध्यम सैकड़ों छिद्र वाला और कोई तथाप्रकार के सुकोमल रेशमी वस्त्र के अत्यन्त सूक्ष्म—बारीक महीन छिद्रों युक्त होता है—

Jain Education International　　For Private & Personal Use Only　　www.jainelibrary.org

'कडकंबलंसुसंकासो विविहबहुछिद्द भरिओ' तथा 'अप्पसिणेहो'—अल्प स्नेहाविभागों का समुदाय रूप एवं 'अविमलो'—निर्मलता से रहित होता है।

यहाँ सर्वघाति और देशघाति के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए जिन पदार्थों की उपमा दी है और रस शब्द का प्रयोग किया है, उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार जानना चाहिए कि रस का अर्थ रसस्पर्धक हैं। क्योंकि रस गुण है और वह गुणी परमाणु के बिना नहीं रह सकता है। सर्वघाति रसस्पर्धक तांबे के पात्र के समान निश्छिद्र होते हैं। जिसका अर्थ यह हुआ कि जैसे तांबे के पात्र में छिद्र नहीं होते हैं और प्रकाशक वस्तु के आगे उसे रख दिया जाये तो उसका किंचित्-मात्र—झलकमात्र प्रकाश बाहर नहीं आता है। उसी प्रकार सर्वघाति रसस्पर्द्धकों में क्षयोपशम रूप छिद्र नहीं होते हैं, तब भी उसको भेद कर कुछ न कुछ प्रकाश बाहर आता है तथा घृतादि की तरह स्निग्ध होने के द्वारा यह स्पष्ट किया है कि सर्वघाति रसस्पर्धक अति चिक-नाई युक्त होने से अल्प होते हुए अधिक कार्य कर सकते हैं तथा जैसे द्राक्षा (दाख) अल्प प्रदेशों से बनी हुई होने पर भी तृप्ति रूप कार्य करने में समर्थ है, उसी प्रकार सर्वघाति प्रकृतियों को अल्पदलिक प्राप्त होने पर भी वे दलिक उस प्रकार के तीव्र रसवाले होने से ज्ञानादि गुणों को आवृत करने रूप कार्य करने में समर्थ हैं तथा स्फटिक के समान निर्मल कहने का कारण यह है कि किसी वस्तु के आगे स्फटिक रखा हुआ हो तब भी उसके आर-पार जैसे उस वस्तु का प्रकाश आता है, उसी प्रकार सर्वघाति रसस्पर्धकों में जड़ चैतन्य का विभाग स्पष्ट रूप से मालूम पड़े ऐसा प्रकाश प्रकट दिखता है। किन्तु देशघाति-रसस्पर्धक ऐसे नहीं होते हैं। उनमें क्षयो-पशम रूप छिद्र अवश्य होते हैं। यदि क्षयोपशम रूप छिद्र न हों तो उस कर्म का भेदन करके प्रकाश बाहर न आये। इसीलिये उन्हें अनेक प्रकार के छिद्रों से व्याप्त कहा है तथा उन्हें अल्प स्नेह वाला कहने का कारण यह है कि उनमें सर्वघाति रस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जितनी शक्ति नहीं होती है, जिससे उनको अधिक दलिक प्राप्त होते हैं, एवं वह रस और पुद्गल दोनों मिलकर कार्य करते हैं तथा उन्हें अनिर्मल कहने का कारण यह है कि उनका भेदन करके प्रकाश बाहर नहीं आ सकता है।

देशघाति रसस्पर्धकों के लिये जो बांस की चटाई आदि की उपमा दी है—वह सार्थक है। जैसे उनमें बड़े, मध्यम और सूक्ष्म अनेक छिद्र होते हैं उसी प्रकार किसी में तीव्र क्षयोपशम, किसी में मध्यम और किसी में अल्प क्षयोपशम रूप छिद्र होते हैं।

इस प्रकार से सर्वघाति और देशघाति रसस्पर्धकों का स्वरूप जानना चाहिए। प्रसंगोपात्त अब प्रतिपक्षी रूप से प्रतीत होने वाले अघाति रस का स्वरूप बतलाते हैं—

जाण न विसओ घाइत्तणंमि ताणंपि सव्वघाइरसो।
जायइ घाइसगासेण चोरया वेह चोराणं ॥४२॥

शब्दार्थ—**जाण**—जिनका, **न**—नहीं, **विसओ**—विषय, **घाइत्तणंम**—घातिरूप, **ताणंपि**—उनका भी, **सव्वघाइरसो**—सर्वघाति रस, **जायइ**—होता है, **घाइसगासेण**—घातिकर्मों के संसर्ग से, **चोरया**—चोरपना, चोरत्व, **वेह चोराणं**—जैसे यहाँ चोर नहीं होने पर भी अचोरों को।

गाथार्थ—जिन प्रकृतियों का घातिरूप कोई विषय नहीं है किन्तु जैसे चोर नहीं होने पर भी अचोरों के लिये चोरों के साथ सम्बन्ध होने से चोरत्व का व्यपदेश होता है, उसी प्रकार सर्वघाति प्रकृतियों के संसर्ग से उनमें सर्वघाति रस होता है।

विशेषार्थ—गाथा में अघाति प्रकृतियों की विशेषता, उनमें प्राप्त रस का स्वरूप और उसका कारण बतलाया है कि इन अघाति प्रकृतियों का साक्षात् आत्मगुणों को घात नहीं करने से घातित्व की दृष्टि से कोई भी विषय नहीं है—'जाण न विसओ घाइत्तणंमि'। यानि जो कर्मप्रकृतियां जीव के ज्ञानादि किसी भी गुण का घात नहीं करती हैं लेकिन ऐसी प्रकृतियों का भी सर्वघाति प्रकृतियों के ससर्ग से सर्वघाति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रस होता है—'ताणंपि सव्वघाइरसो'। जो एक विलक्षण प्रकार का है। क्योंकि केवल घाति प्रकृतियों के सम्पर्क से इन अघाति प्रकृतियों का रसविपाक देखा जाता है। जैसे कि लोक में सबल के साथ रहने वाला निर्बल भी स्वयं अपने में क्षमता नहीं होने पर भी अपनी शक्ति का प्रदर्शन करता है, उसी प्रकार अघाति कर्मप्रकृतियां भी सर्वघाति प्रकृतियों के संसर्ग मे तत्सदृश अपना विपाक वेदन कराती हैं।

ग्रन्थकार आचार्य ने उक्त दृष्टान्त के समकक्ष एक और दृष्टान्त दिया कि 'चोरया वेह चोराणं'—अर्थात् जैसे कोई स्वयं चोर नहीं है परन्तु चोर के संसर्ग से उसे भी चोर कहा जाता है, उसी प्रकार अघाति प्रकृतियां स्वयं अघाति होने पर भी घाति के सम्बन्ध से घाति-पने को प्राप्त होती हैं। घातिकर्म के सम्बन्ध बिना अघाति कर्मप्रकृ-तियां आत्मा के किसी गुण का घात नहीं करती हैं।

अब इसी प्रसंग में यद्यपि कषायें सर्वघाति हैं, लेकिन कषाय होने पर भी संज्वलनकषायचतुष्क और कषाय की उत्तेजक, सहकारी नव नोकषायों को देशघाति मानने के कारण का विचार करते हैं।

संज्वलनकषायचतुष्क और नोकषायों को देशघाति मानने का कारण

घाइखओवसमेणं सम्मचरित्ताइं जाइं जीवस्स।
ताणं हणंति देसं संजलणा नोकसाया य ॥४३॥

शब्दार्थ— **घाइखओवसमेणं**—सर्वघाति मोहनीयकर्म के क्षयोपशम द्वारा, **सम्मचरित्ताइं**—सम्यक्त्व और चारित्र, **जाइं**—प्राप्त होते हैं, **जीवस्स**—जीव को, **ताणं**—उनके, **हणंति**—घात करती हैं, **देसं**—एकदेश को, **संज-लणा**—संज्वलन, **नोकसाया**—नोकषायें, **य**—और।

गाथार्थ—सर्वघाति मोहनीयकर्म के क्षयोपशम द्वारा जीव को जो सम्यक्त्व और चारित्र प्राप्त होते हैं, संज्वलन और नोकषायें उनके एकदेश को घात करती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ—संज्वलनचतुष्क और नव नोकषायों को देशघाति मानने का कारण यह है कि मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधीचतुष्क आदि सर्वघाति बारह कषायों का क्षयोपशम होने पर जीव को जो सम्यक्त्व एवं चारित्रगुण प्राप्त होते हैं, उनके एकदेश को विपाकोदय को प्राप्त संज्वलन क्रोधादि और हास्यादि नोकषायें घात करती हैं। अर्थात् उनमें अतिचार उत्पन्न करने रूप मात्र मलिनता उत्पन्न करती हैं किन्तु सर्वथा उनका नाश नहीं करती हैं। जिससे संज्वलनचतुष्क और नोकषायें देशघाति हैं। इसी प्रकार से ज्ञान, दर्शन और दानादि लब्धि के एकदेश का घात करने वाली होने से मतिज्ञानावरण आदि प्रकृतियां देशघाति समझना चाहिए।

इस प्रकार से शुभ, अशुभ और सर्वघाति-देशघाति-अघाति पद का अर्थ और प्रसंगानुसार यथायोग्य सम्बन्धित विषयों का कथन करने के पश्चात् अब क्रम-प्राप्त परावर्तमान और अपरावर्तमान पद का अर्थ बतलाते हैं।

परावर्तमान-अपरावर्तमान पद का अर्थ

विणिवारिय जा गच्छइ बंधं उदयं च अन्नपगईए।
सा हु परियत्तमाणी अणिवारेंति अपरियत्ता ॥४४॥

शब्दार्थ—**विणिवारिय**—विनिवार्य-रोककर, **जा**—जो, **गच्छइ**—प्राप्त होती है, **बंढं**—बंध, **उदयं**—उदय, **च**—और, अथवा, **अन्नपगईए**—अन्य प्रकृतियों के, **सा**—वह, **हु**—निश्चय ही, **परियत्तमाणी**—परावर्तमान, **अणिवारेंति**—निवारण नहीं करती, रोकती नहीं हैं, **अपरियत्ता**—अपरावर्तमान।

गाथार्थ—निश्चय ही जो प्रकृति अन्य प्रकृतियों के बंध अथवा उदय को रोककर बंध अथवा उदय को प्राप्त होती है, उसे परावर्तमान और जो नहीं रोकती है उसे अपरावर्तमान कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ—गाथा में परावर्तमान और अपरावर्तमान पद की व्याख्या की है—

जो प्रकृति अन्य प्रकृति के बंध अथवा उदय को रोककर स्वयं बंध अथवा उदय को प्राप्त हो अर्थात् अन्य प्रकृतियों के बंध अथवा उदय काल में जीव के अध्यवसायों के निमित्त से जिस प्रकृति का बंध अथवा उदय होने लगे और बध्यमान अथवा उदयमान प्रकृति का बंध, उदय रुक जाये, ऐसी वह बंध, उदय को प्राप्त होने वाली प्रकृति परावर्तमान प्रकृति कहलाती है। सब मिलाकर ऐसी प्रकृतियां इक्यानवै हैं—

निद्रापंचक, साता-असातावेदनीय, सोलह कषाय, वेदत्रिक, हास्य, रति, अरति, शोक, आयुचतुष्टय, गतिचतुष्टय, जातिपंचक, औदारिकद्विक, वैक्रियद्विक, आहारकद्विक, संहननषट्क, संस्थानषट्क, आनुपूर्वीचतुष्टय, विहायोगतिद्विक, आतपनाम, उद्योतनाम, त्रसदशक, स्थावरदशक, उच्चगोत्र और नीचगोत्र।

इन प्रकृतियों को परावर्तमान कहने का कारण यह है—

सोलह कषाय और पांच निद्रा, ये इक्कीस प्रकृतियां ध्रुवबंधिनी होने से युगपत् एक साथ ही बंधती हैं, परस्पर स्वजातीय प्रकृतियों के बंध को रोककर तो नहीं बंधती हैं, लेकिन अपने उदयकाल में स्वजातीय अन्य प्रकृतियों के उदय को रोककर उदय को प्राप्त होती हैं अर्थात् अन्य स्वजातीय प्रकृतियों के उदय को रोककर उदय में आती हैं। इसलिये ये इक्कीस प्रकृतियां उदयापेक्षा परावर्तमान हैं।

स्थिर, शुभ और अस्थिर, अशुभ इन चारों प्रकृतियों का एक साथ उदय हो सकता है अतः उदय में विरोधी नहीं है। परन्तु बंधापेक्षा विरोधी हैं। स्थिर और शुभ, अस्थिर और अशुभ के बंध को रोककर और अस्थिर व अशुभ, स्थिर एवं शुभ के बंध को रोककर बंधती हैं। जिससे ये चारों प्रकृतियां बंधापेक्षा परावर्तमान हैं और शेष तिर आदि प्रकृतियां बंध एवं उदय इन दोनों में परस्पर विरोधी होने से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वजातीय प्रकृति के बंध और उदय दोनों को रोककर बंध और उदय को प्राप्त होने के कारण बंध और उदय दोनों दृष्टियों से परावर्तमान हैं।

सम्यक्त्व और सम्यग्‌मिथ्यात्व ये दो प्रकृतियां भी परावर्तमान हैं। लेकिन उदयापेक्षा किन्तु बंध अथवा बंधोदयापेक्षा नहीं। क्योंकि इनका बंध होता ही नहीं है। इसलिये उक्त इकानवै प्रकृतियों के साथ इन दो प्रकृतियों को मिलाने पर कुल तेरानवै प्रकृतियां परावर्तमान जानना चाहिए।

प्रकृतियों की परावर्तमानता के तीन रूप हैं—बंध—बंध की अपेक्षा, उदय— उदय की अपेक्षा और बंध—उदय (उभय) की अपेक्षा। कुछ प्रकृतियां ऐसी हैं जो अन्य के बंध को रोककर स्वयं बंधने लगती हैं। कुछ प्रकृतियां ऐसी हैं, जिनके उदयकाल में अन्य स्वजातीय प्रकृतियों का उदय रुक जाता है और कुछ दूसरी स्वजातीय पर प्रकृतियों को रोककर उदय में आती हैं। इन तीनों प्रकार की प्रकृतियों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

परावर्तमान प्रकृतियों से विपरीत प्रकृतियां अपरावर्तमान कहलाती हैं। ऐसी प्रकृतियां उनतीस हैं, यथा—ज्ञानावरणपंचक, अन्तरायपंचक, दर्शनावरणचतुष्क, पराघात, तीर्थंकर, उच्छ्‌वास, मिथ्यात्व, भय, जुगुप्सा और नामकर्म की ध्रुवबंधिनी नवक। ये उनतीस प्रकृतियां बंध और उदय के आश्रय से अपरावर्तमान हैं। क्योंकि इन प्रकृतियों का बंध या उदय बंधनेवाली या वेद्यमान शेष प्रकृतियों के द्वारा घात नहीं किया जा सकता है। अन्य प्रकृतियों के बंध और उदय को रोके बिना इनका बंध, उदय होता है।

इस प्रकार से परावर्तमान, अपरावर्तमान पद का अर्थ जानना चाहिए। अब पूर्व में बताये गये विपाकापेक्षा प्रकृतियों के चार प्रकारों की व्याख्या करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विपाकापेक्षा प्रकृतियों की व्याख्या

दुविहा विवागओ पुण हेउविवागाउ रसविवागाउ ।
एक्केक्का वि य चउहा जओ च सद्दो विगप्पेणं ॥४५॥

शब्दार्थ—**दुविहा**—दो प्रकार की, **विवागओ**—विपाकापेक्षा, **पुण**—पुनः, **हेउविवागाउ**—हेतुविपाका, **रसविवागाउ**—रसविपाका, **एक्केक्का**—प्रत्येक, **वि**—भी, **य**—और, **चउहा**—चार प्रकार की, **जओ**—क्योंकि, **च सद्दो**—च शब्द के, **विगप्पेणं**—विकल्प से ।

गाथार्थ—विपाकापेक्षा प्रकृतियां दो प्रकार की हैं—हेतुविपाका और रसविपाका और ये भी प्रत्येक चार प्रकार की हैं। च शब्द के विकल्प से प्रत्येक के इन चार प्रकारों का ग्रहण समझना चाहिये ।

विशेषार्थ—अनुभव करने को विपाक कहते हैं । संसारी जीव को कर्म अपने-अपने स्वभाव का अनुभव अपनी-अपनी शक्ति के अनुरूप तथा किसी न किसी निमित्त के माध्यम से कराते हैं । इन्हीं दोनों दृष्टियों से विपाकापेक्षा कर्मों के दो प्रकार हो जाते हैं । इन्हीं का ग्रन्थकार आचार्य ने गाथा में उल्लेख किया है—

'दुविहा विवागओ' अर्थात् विपाकापेक्षा प्रकृतियों के दो प्रकार हैं—'हेउविवागाउ रसविवागाउ'—हेतुविपाका और रसविपाका। उनमें से हेतु की प्रधानता से यानी पुद्गलादि रूप हेतु के आश्रय से जिन प्रकृतियों का विपाक—फलानुभव होता है, वे प्रकृतियां हेतुविपाका और रस की मुख्यता यानी रस के आश्रय से निर्दिश्यमान विपाक जिस प्रकृति का हो वे प्रकृतियां रसविपाका कहलाती हैं ।

इन पूर्वोक्त दोनों प्रकार की प्रकृतियों में से पुनः एक-एक—प्रत्येक के भी चार-चार प्रकार हैं—'एक्केक्का वि य चउहा' । उनमें से पुद्गल, क्षेत्र, भव और जीव रूप हेतु के भेद से हेतुविपाका प्रकृतियों के चार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार हैं। वे इस प्रकार—पुद्गलविपाका, क्षेत्रविपाका, भवविपाका और जीवविपाका। इसी प्रकार चार, तीन, दो और एक स्थानक रस के भेद से रसविपाका प्रकृतियों के भी चार प्रकार हैं,—यथा चतुःस्थानक रसवाली, त्रिस्थानक रसवाली, द्विस्थानक रसवाली और एकस्थानक रसवाली।

हेतुविपाका और रसविपाका प्रकृतियों के चार-चार प्रकारों का स्वरूप यथाप्रसंग पूर्व में बताया जा चुका है कि कौन-कौनसी प्रकृतियां पुद्गलविपाका, क्षेत्रविपाका आदि हैं तथा एकस्थानक रस आदि भेदों का स्वरूप, किन प्रकृतियों का कितना रस बंध होता है इत्यादि कथन पूर्व में विशेष स्पष्टता के साथ किया जा चुका है। अतः वह सब वहाँ से समझ लेना चाहिए।

प्रश्न—पूर्व में द्वार गाथा में यह तो कहा नहीं था कि विपाक की अपेक्षा प्रकृतियों के दो प्रकार हैं ? तो फिर यहाँ उनका वर्णन क्यों किया है ?

उत्तर—उपर्युक्त प्रश्न योग्य नहीं है एवं 'नहीं कहा' यह कथन ही असिद्ध है। क्योंकि द्वारों के नामोल्लेख के प्रसंग में 'पगई य विवागओ चउहा' पद में प्रकृति शब्द के अनन्तर आगत 'य—च' शब्द विकल्प का बोधक है और उस विकल्प का यह आशय हुआ कि विपाकशः प्रकृतियां चार प्रकार की हैं अथवा 'अन्यथा' 'अन्य प्रकार से' भी हैं और इस अन्य प्रकार से के संकेत द्वारा बताया है कि हेतु और रस के भेद से प्रकृतियों के दो प्रकार हैं।

इस प्रकार विपाकापेक्षा प्रकृतियों के प्रकारों को जानना चाहिये। उनमें से अब पहले हेतुविपाका प्रकृतियों के सम्बन्ध में विशेष विचार करते हैं।

हेतुविपाका प्रकृतियों सम्बन्धी वक्तव्य

जा जं समेच्च हेउं विवागउदयं उवेंति पगईओ।
ता तव्विवागसन्ना सेसभिहाणाइं सुगमाइं ॥४६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दार्थ—**जा**—जो, **जं**—जिस, **समेच्च**—प्राप्त करके, **हेउं**—हेतु को, **विवागउदयं**—विपाकोदय को, **उवेंति**—प्राप्त होती हैं, **पगईओ**—प्रकृतियां, **ता**—वे, **तव्विवागसन्ना**—उस विपाक की संज्ञावाली, **सेसभिहाणाइं**—शेष अभिधान—नाम, **सुगमाइं**—सुगम ।

गाथार्थ—जो प्रकृतियां जिस हेतु के माध्यम से विपाकोदय को प्राप्त होती हैं वे प्रकृतियां उस विपाक संज्ञा वाली होती हैं। शेष नाम सुगम हैं।

विशेषार्थ—गाथा में प्रकृतियों के हेतुविपाका कहने के सूत्र—कारण का संकेत किया है। द्रव्य, क्षेत्र, भव और जीव, ये विपाक कराने के चार सहचारी माध्यम—हेतु हैं। इसी से वे प्रकृतियां उस-उस नाम वाली कहलाती हैं। जैसे कि—

संस्थान, संहनन नामकर्मादि प्रकृतियां औदारिकशरीर आदि रूप पुद्गलों को प्राप्त करके विपाकोदय को प्राप्त होती हैं, जिससे वे प्रकृतियां पुद्गलविपाका कहलाती हैं। चार आनुपूर्वीनामकर्म विग्रह-गतिरूप क्षेत्र के आश्रय से उदय में आती हैं, इसीलिए वे क्षेत्रविपाका कहलाती हैं, इत्यादि।

'सेसभिहाणाइं सुगमाइं' अर्थात् शेष नाम ध्रुवसत्ताका, अध्रुव-सत्ताका इत्यादि नाम सुगम हैं। अतः उस-उस नाम से उन प्रकृतियों को जानने में कठिनाई नहीं होने से यहाँ उनका विशेष विचार नहीं करते हैं।

इस प्रकार से प्रकृतियों के वर्गीकरण की संज्ञाओं के नामकरण की दृष्टि को बतलाने के बाद अब हेतुविपाक के उक्त लक्षण का आश्रय लेकर कुछ हेतुविपाका प्रकृतियों के बारे में जिज्ञासु द्वारा प्रस्तुत प्रश्नों का समाधान करते हैं।

पुद्गलविपाकित्व विषयक समाधान

अरइरईणं उदओ किन्न भवे पोग्गलाणि संपप्प ।
अप्पुट्ठेहि वि किन्नो एवं कोहाइयाणंवि ॥४७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दार्थ—अरइरईणं—अरति और रति मोहनीय का, **उदओ**—उदय, **किन्न**—क्या नहीं, **भवे**—होता है, **पोग्गलाणि**—पुद्गलों के आश्रय को, **संपप्प**—प्राप्त करके, **अप्पुट्ठेहि**—स्पर्श बिना, **वि**—भी, **किन्नो**—क्या नहीं, **एवं**—इसी प्रकार से, **कोहाइयाणं**—क्रोधादिक के लिए, **वि**—भी।

गाथार्थ—क्या अरति और रति मोहनीय का उदय पुद्गलों के आश्रय को प्राप्त करके नहीं होता है ? पुद्गलों के स्पर्श बिना भी क्या उनका उदय नहीं होता है ? इसी प्रकार से क्रोधादिक का भी समझना चाहिये।

विशेषार्थ—पूर्व गाथा में कहे गये—'पुद्गल रूप हेतु को प्राप्त करके जो प्रकृतियां विपाकोदय को प्राप्त होती हैं वे पुद्गलविपाका प्रकृतियां हैं' को आधार बनाकर जिज्ञासु प्रश्न पूछता है—

प्रश्न—रतिमोहनीय और अरतिमोहनीय का उदय क्या पुद्गल रूप हेतु के आश्रय से नहीं होता है ? अर्थात् उन दोनों का उदय भी पुद्गलों के माध्यम को प्राप्त करके होता ही है। जैसे कि कंटकादि पुद्गलों के संसर्ग से अरति का और पुष्प, माला, चंदन आदि के सम्बन्ध—स्पर्श से रतिमोहनीय का विपाकोदय होता है। इस प्रकार पुद्गलों को प्राप्त करके दोनों का उदय होने से उन दोनों को पुद्गल-विपाका मानना चाहिये। किन्तु जीवविपाका कहना योग्य नहीं है।

उत्तर—ऐसा नहीं है। क्योंकि 'अप्पुट्ठेहि वि किन्नो' पुद्गलों के सम्बन्ध बिना—स्पर्श हुए बिना क्या रति-अरति मोहनीय का उदय नहीं होता है ? होता है। अर्थात् पुद्गलों के साथ स्पर्श हुए बिना भी उनका उदय होता है। जैसे कि कंटकादि के साथ सम्बन्ध—संस्पर्श हुए बिना भी प्रिय-अप्रिय वस्तु के दर्शन और स्मरणादि के द्वारा रति, अरति का विपाकोदय देखा जाता है। अतः रति और अरति मोहनीय पुद्गलविपाकी प्रकृतियां नहीं हैं। क्योंकि पुद्गलविपाका प्रकृतियां तो वही कही जायेंगी, जिनका पुद्गल के साथ सम्बन्ध हुए बिना उदय होता ही नहीं है। लेकिन रति और अरति मोहनीय प्रकृतियां ऐसी

Jain Education International　　For Private & Personal Use Only　　www.jainelibrary.org

नहीं हैं। उनका विपाक पुद्गलों के संसर्ग से भी होता है और संसर्ग हुए बिना भी होता है। इसलिये पुद्गलों के साथ व्यभिचार होने से रति-अरति मोहनीय का पुद्गलविपाकित्व सिद्ध नहीं होता है, किन्तु वे दोनों जीवविपाका ही हैं।

इसी प्रकार से क्रोधादि के सम्बन्ध में भी पूर्वपक्ष की युक्तियों का निराकरण करके उनका जीवविपाकित्व सिद्ध करना चाहिये—'एवं कोहाइयाणंवि'। जैसे कि किसी के तिरस्कार करने वाले शब्दों को सुनकर क्रोध का उदय होता है और शब्द पौद्गलिक हैं। इसलिये यदि कोई कहे कि क्रोध का उदय भी पुद्गलों के आश्रय से होता है, अतः वह पुद्गलविपाकी है। तो प्रति-प्रश्न के रूप में उसका उत्तर देते हुए पूछो कि स्मरणादि द्वारा पुद्गलों का सम्बन्ध हुए बिना भी क्या उनका विपाक नहीं देखा जाता है? अतः पुद्गलों के साथ व्यभिचार आने से रति, अरति की तरह क्रोधादिक को भी जीवविपाकी जानना चाहिये।

इस प्रकार से जीवविपाकी प्रकृतियों को पुद्गलविपाकी नहीं मानने के कारण को स्पष्ट करने के बाद अब यह स्पष्ट करते हैं कि जीवविपाकी प्रकृतियां भवविपाकी भी क्यों नहीं हैं?

भवविपाकित्वविषयक समाधान

आउव्व भवविवागा गई न आउस्स परभवे जम्हा।
नो सव्वहा वि उदओ गईण पुण संक्रमेणत्थि ॥४८॥

शब्दार्थ—**आउव्व**—आयु की तरह, **भवविवागा**—भवविपाकी, **गई**—गतियां, **न**—नहीं, **आउस्स**—आयु का, **परभवे**—परभव में, **जम्हा**—इस कारण, **नो**—नहीं, **सव्वहा**—पूर्णरूप से,—किसी भी प्रकार से, **वि**—भी, **उदओ**—उदय, **गईण**—गतियों का, **पुण**—पुनः, **संकमेणत्थि**—संक्रम से होता है।

गाथार्थ—आयु की तरह गतियां भवविपाकी नहीं हैं। आयु का परभव में किसी प्रकार से उदय संभव नहीं है, किन्तु गतियों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का तो संक्रम के द्वारा उदय होता है। इसलिये आयु की तरह गतियां भवविपाकी नहीं हैं।

विशेषार्थ—गाथा में जिज्ञासु के एक दूसरे प्रश्न का समाधान किया है। प्रश्न इस प्रकार है—

जिस भव की आयु बंध का किया हो तो उस भव में ही उस आयुकर्म का विपाकोदय होता है अन्य भव में नहीं होता है। जैसे कि मनुष्यायु का बंध होने पर उसका विपाकोदय देव आदि अन्य भवों में नहीं होता है और यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है। उसी प्रकार गतिनामकर्म का भी तत्तत् भव में उदय देखा जाता है। इसलिए गति को भी आयु की तरह भवविपाकी मानना चाहिये। फिर उसे जीवविपाकी क्यों कहा जाता है ?

इस प्रश्न का समाधान करते हुए ग्रन्थकार आचार्य बतलाते हैं—

'आउव्व भवविवागा' अर्थात् आयुकर्म ही भवविपाकी है किन्तु आयु की तरह 'गई न' गतियां भवविपाकी नहीं हैं। क्योंकि जिस भव की आयु का बंध किया हो, उसके सिवाय अन्य किसी भी भव में उस आयु का विपाकोदय द्वारा उदय नहीं होता है और न संक्रम द्वारा—स्तिबुकसंक्रम द्वारा भी उदय होता है। जिस गति की आयु बांधी हो उस गति में ही उसका उदय होता है। इसलिये अपने निश्चित भव के साथ अव्यभिचारी होने से आयु को भवविपाकी कहा जाता है। परन्तु 'गईण पुण संकमेणत्थि' अर्थात् गतियों का तो अपने भव के सिवाय अन्यत्र भी संक्रम—स्तिबुकसंक्रम द्वारा उदय होता है। जिससे अपने भव के साथ व्यभिचारी होने से वे भवविपाकी नहीं हैं।

उक्त समाधान का तात्पर्य यह है कि आयु का स्वभव में ही उदय होता है। इसलिये आयुकर्म भवविपाकी ही है किन्तु गतियों का तो स्वभव में विपाकोदय द्वारा और परभव में स्तिबुकसंक्रम द्वारा भी इस तरह स्व और पर दोनों भवों में उदय संभव होने से वे भवविपाकी नहीं मानी जाती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि न तो भवविपाकी प्रकृतियां जीवविपाकी हो सकती हैं और न जीवविपाकी प्रकृतियां भवविपाकी होती हैं। किन्तु उन-उनकी मर्यादा के अनुसार जीव यथायोग्य रीति से उन प्रकृतियों का विपाक वेदन करता है।

इस प्रकार से भवविपाकी प्रकृतियों सम्बन्धी जिज्ञासु के प्रश्न का समाधान करने के पश्चात् अब क्षेत्रविपाक का आधार लेकर जिज्ञासु द्वारा प्रस्तुत प्रश्न का समाधान करते हैं।

क्षेत्रविपाकित्वविषयक समाधान

अणुपुव्वीणं उदओ किं संकमणेण नत्थि संतेवि।
जह खेत्ताहेउणो ताण न तह अन्नाण सविवागो ॥४६॥

शब्दार्थ—**अणु पुव्वीणं**—आनुपूर्वियों का, **उदओ**—उदय, **किं**—क्या, **संकमणेण**—संक्रम द्वारा, **नत्थि**—नहीं होता है, **संते**—होता है, **वि**—भी **जह**—यथा, **खेत्तहेउणो**—क्षेत्रहेतुक क्षेत्रनिमित्तक, **ताण**—उनका, **न**—नहीं **तह**—तथा, **अन्नाण**—अन्य प्रकृतियों का, **सविवागो**—स्वविपाक।

गाथार्थ—क्या आनुपूर्वियों का उदय संक्रम द्वारा नहीं होता है? होता है—संक्रम द्वारा उदय होता है। परन्तु जिस प्रकार से उनका विपाक क्षेत्रहेतुक है उसी तरह से अन्य प्रकृतियों का नहीं है, इसलिये आनुपूर्वी प्रकृतियां क्षेत्रविपाकी हैं।

विशेषार्थ—गाथा में आनुपूर्वी नामकर्म को क्षेत्रविपाकी ही मानने के कारण को स्पष्ट किया है।

जिज्ञासु प्रश्न पूछता है कि गति और आनुपूर्वियों में संक्रम की समानता है। अतः गति की तरह आनुपूर्वियों को भी जीवविपाकी मानना चाहिये। क्योंकि गतिनामकर्म का अपने-अपने भव के सिवाय अन्य भव में भी संक्रम द्वारा उदय होता है और इसलिये अपने भव के साथ व्यभिचारी होने के कारण उनको भवविपाकी न मानकर जीव-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विपाकी कहा है। उसी प्रकार स्तिबुकसंक्रम के द्वारा स्वयोग्य क्षेत्र के सिवाय अन्यत्र भी आनुपूर्वीनामकर्म का उदय पाया जाता है, जिससे स्वक्षेत्र के साथ व्यभिचारी होने के कारण आनुपूर्वियों को क्षेत्रविपाकी कहना योग्य नहीं है। परन्तु जीवविपाकी ही कहना चाहिये।

उक्त जिज्ञासा का समाधान करते हुए ग्रन्थकार आचार्य बतलाते हैं कि प्रश्न युक्तिसंगत है और हम मानते हैं कि—

आनुपूर्वियों का भी संक्रम द्वारा स्वयोग्य क्षेत्र के सिवाय अन्यत्र उदय संभव है, लेकिन जिस रीति से आकाश प्रदेशरूप क्षेत्र के निमित्त से इन प्रकृतियों का रसोदय होता है वैसा अन्य किसी भी प्रकृति का नहीं होता है। इसीलिये आनुपूर्वियों के रसोदय में आकाश प्रदेशरूप क्षेत्र की असाधारण हेतुता बतलाने के लिये ही उन्हें क्षेत्रविपाकी माना है।

इस प्रकार से क्षेत्रविपाकित्व सम्बन्धी जिज्ञासा का समाधान करने के पश्चात अब जीवविपाकाश्रयी पर प्रश्न का समाधान करते हैं।

जीवविपाकित्वविषयक समाधान

संपप्प जीवकाला काओ उदयं न जंति पगईओ।
एवमिणमोहहेउं आसज्ज विसेसयं नत्थि ॥५०॥

शब्दार्थ—**संपप्प**—प्राप्त करके, **जीवकाला**—जीव और काल को, **काओ**—कौनसी, **उदयं**—उदय, **न**—नहीं, **जंति**—आती हैं, **पगईओ**—प्रकृतियां, **एवमिणं**—ऐसा ही है, **ओहहेउं**—सामान्य हेतु के, **आसज्ज**—आश्रय—अपेक्षा से, **विसेसयं**—विशेष हेतु की अपेक्षा, **नत्थि**—नहीं है।

गाथार्थ—जीव और कालरूप हेतु को प्राप्त करके कौन सी प्रकृतियां उदय में नहीं आती हैं? अर्थात् सभी उदय में आती हैं, अतः वे सभी प्रकृतियां जीवविपाकी हैं। (उत्तर) सामान्य हेतु की अपेक्षा से तो ऐसा ही है किन्तु विशेष हेतु की अपेक्षा ऐसा नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषार्थ—कर्मों का कर्ता और भोक्ता संसारी जीव है और उदयकाल प्राप्त होने पर उनका विपाकोदय होता है। इस सिद्धान्त का आधार लेकर जिज्ञासु प्रश्न पूछता है—

ऐसी कौन सी प्रकृतियां हैं कि जो जीव और काल रूप हेतु के आश्रय से उदय में नहीं आती हैं—'उदयं काओ न जंति पगईओ' ? अर्थात् सभी प्रकृतियां जीव और काल रूप हेतु के आश्रय से उदय में आती हैं। क्योंकि जीव और काल के बिना उदय असम्भव ही है। इसलिये सभी प्रकृतियों को जीवविपाकी ही मानना चाहिये।

ग्रन्थकार आचार्य इसका समाधान करते हैं—

'एवमिणं' ऐसा ही है, अर्थात् सामान्यहेतु की अपेक्षा तो जो कहा गया है, वैसा ही है। यानी जीव और काल के आश्रय से सभी प्रकृतियों का उदय होने से वे सब जीवविपाकी ही हैं परन्तु असाधारण—विशेष हेतु की अपेक्षा ऐसा नहीं—'विसेसयं नत्थि'। क्योंकि जीव अथवा काल सभी प्रकृतियों के उदय के प्रति साधारण हेतु हैं। अतः उनकी अपेक्षा तो सभी प्रकृतियां जीवविपाकी ही हैं परन्तु कितनी ही प्रकृतियों के उदय के लिए क्षेत्रादि भी असाधारण कारण हैं। जिससे उनकी अपेक्षा क्षेत्रविपाकी आदि का व्यवहार होता है और ऐसे व्यवहार में किसी प्रकार का दोष नहीं है।

इस प्रकार से हेतुविपाकी प्रकृतियों के विषय में विशेष वक्तव्य जानना चाहिये। अब रसविपाकित्व सम्बन्धी विवेचन करते हैं।

रसविपाकित्व विषयक प्रश्नोत्तर

केवलदुगस्स सुहुमो हासाइसु कह न कुणइ अपुव्वो।
सुभगाईणं मिच्छो किलिट्ठओ एगठाणिरसं ॥५१॥

शब्दार्थ—**केवलदुगस्स**—केवलद्विक का, **सुहुमो**—सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानवर्ती, **हासाइसु**—हास्यादिक का, **कह**—क्यों, **न**—नहीं, **कुणइ**—करता है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपुव्वो—अपूर्वकरणगुणस्थान वाला, **सुभगाईणं**—सुभगादि का, **मिच्छो**—मिथ्यादृष्टि, **किलिट्ठओ**— संक्लिष्ट, **एगठाणि**— एकस्थानक, **रसं**—रस।

गाथार्थ—सूक्ष्मसपरायगुणस्थानवर्ती जीव केवलद्विक का, हास्यादि का अपूर्वकरणगुणस्थान वाला और संक्लिष्ट परिणामी मिथ्यादृष्टि सुभगादि का एकस्थानक रस क्यों नहीं बांधता है ?

विशेषार्थ— गाथा में जिज्ञासु ने कतिपय प्रकृतियों के रसबंध-प्रकार सम्बन्धी प्रश्न प्रस्तुत किये हैं। उनमें से पहला प्रश्न यह है—

'केवलदुगस्स सुहुमो' अर्थात् जैसे श्रेणि पर आरूढ़ जीव नौवें अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थान के संख्यात भागों के बीतने के पश्चात् अति विशुद्ध परिणाम के योग से मतिज्ञानावरणादि अशुभ प्रकृतियों के एकस्थानक रस का बंध करता है, उसी प्रकार क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ जीव सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के अन्त या उपान्त्यादि समय में अत्यन्त विशुद्ध परिणाम के योग से केवलद्विक—केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण के एकस्थानक रस का बंध क्यों नहीं करता है ? क्योंकि केवलद्विक अशुभ प्रकृतियां हैं और उनके बंधकों में क्षपकश्रेणि पर आरोहण करने वालों में सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान वाला जीव अत्यन्त विशुद्ध परिणामी है। इसलिए मतिज्ञानावरणादि अशुभ प्रकृतियों की तरह उसे केवलद्विक-आवरण का भी एकस्थानक रसबंध होना सम्भव है। तो फिर उसे एकस्थानक रसबंधक क्यों नहीं कहा ? किन्तु यह बताया कि अल्पातिअल्प मात्रा में भी द्विस्थानक रस बंधता है।

दूसरा प्रश्न यह है—

'हासाइसु कह न कुणइ अपुव्वो' अर्थात् हास्य, रति, भय और जुगुप्सा ये पाप प्रकृतियां हैं और इनके सबसे अल्प-अल्पतम रसबंधकों में विशुद्धि के प्रकर्ष को प्राप्त अपूर्वकरणगुणस्थानवर्ती जीव हैं। अतः उनको एकस्थानक रसबंध क्यों नहीं होता है ? इनके बंधकों में वे ही अति विशुद्ध अध्यवसाय वाले हैं। क्योंकि अशुभ प्रकृतियों का जघन्यतम रसबंध विशुद्ध अध्यवसायों से होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीसरा प्रश्न है—

'सुभगाईणं मिच्छो' इत्यादि अर्थात् सुभगादि पुण्य प्रकृतियों का अतिसंक्लिष्ट परिणाम वाला मिथ्यादृष्टि एकस्थानक रसबंध क्यों नहीं करता है ? क्योंकि अतिसंक्लिष्ट परिणामों के संभव होने पर पुण्य प्रकृतियों का एकस्थानक रसबंध संभव है तो फिर पूर्व में यह क्यों कहा है कि सत्रह प्रकृतियों में ही एक, द्वि, त्रि और चतुः स्थानक रसबंध होता है और इनके सिवाय शेष रही सभी प्रकृतियों में द्वि, त्रि और चतुः स्थानक रस बंधता है।

इस प्रकार से पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत प्रश्नकार के पूर्वोक्त तर्कों का समाधान करने हेतु अब ग्रन्थकार आचार्य वस्तुस्थिति स्पष्ट करते हैं—

जलरेहसमकसाए वि एगठाणी न केवलदुगस्स ।
जं तणुयंपि हु भणियं आवरणं सव्वघाई से ॥५२॥
सेसासुभाण वि न जं खवगियराणं न तारिसा सुद्धी ।
न सुभाणंपि हु जम्हा ताणं बंधो विसुज्झंति ॥५३॥

शब्दार्थ—**जलरेहसमकसाए**—जलरेखा सदृश कषाय द्वारा, **वि**—भी, **एगठाणी**—एकस्थानक, **न**—नहीं, **केवलदुगस्स**—केवलद्विक का, **जं**—क्योंकि, **तणुयंपि**—अल्पमात्र भी, **हु**—निश्चय ही, **भणियं**—कहा है, **आवरणं**—आवरण, **सव्वघाई**—सर्वघाति, **से**—उनका।

सेसासुभाण—शेष अशुभ प्रकृतियों का, **वि**—भी, **न**—नहीं, **जं**—क्योंकि, **खवगियराणं**—क्षपक और इतर गुणस्थान वालों के, **न**—नहीं, **तारिसा**—तादृश—वैसी, **सुद्धी**—शुद्धि, **न**—नहीं, **सुभाणंपि**—शुभ प्रकृतियों की भी, **हु**—निश्चय से, **जम्हा**—इसलिये, **ताणं**—उनका, **बंधो**—बंध, **विसुज्झंति**—विशुद्धि होने पर।

गाथार्थ—जलरेखा सदृश कषाय द्वारा भी केवलद्विक का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एकस्थानक रसबंध नहीं होता है। क्योंकि निश्चय ही उन दोनों का अल्पमात्र भी आवरण सर्वघाती कहा है।

शेष अशुभ प्रकृतियों का भी एकस्थानक रसबंध नहीं होता है। क्योंकि क्षपक और इतर गुणस्थान वालों के वैसी—उस प्रकार की शुद्धि नहीं होती है और न शुभ प्रकृतियों का ही (संक्लिष्ट मिथ्यादृष्टि को भी) एकस्थानक रसबंध होता है। क्योंकि उनका बंध भी कुछ पारिणामिक विशुद्धि होने पर ही होता है।

विशेषार्थ—जिज्ञासु द्वारा जो यह जानना चाहा है कि केवलद्विक, हास्यादि और शुभ प्रकृतियों के यथायोग्य बंधक एकस्थानक रस क्यों नहीं बांधते हैं? उसका ग्रन्थकार आचार्य ने इन दो गाथाओं में कारणों की मीमांसा करते हुए समाधान किया है।

जिज्ञासु का पहला प्रश्न है कि सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानवर्ती जीव केवलद्विक-आवरण का एकस्थानक रसबंध क्यों नहीं करता है? आचार्यश्री इसका समाधान करते हैं—

'जलरेहसमकसाए वि'—अर्थात् अनन्तानुबंधी आदि कषायों के चार प्रकारों के लिए पूर्व में जो चार तरह की उपमायें दी हैं। उनमें संज्वलन कषायों के लिये जलरेखा की उपमा दी है। अतः जलरेखा के समान संज्वलनकषाय का उदय होने पर ही केवलद्विक-आवरण— केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण का एकस्थानक रसबंध नहीं हो सकता है। इसका कारण यह है कि उन दोनों का स्वल्प रस रूप आवरण भी सर्वघाति होता है। जैसे कि सर्पविष की अत्यल्प मात्रा भी प्राणघातक ही होती है, उसी प्रकार केवलद्विक-आवरण के जघन्यपद में प्राप्त रस सर्वघाति ही समझना चाहिए और सर्वघाति रस जघन्यपद में भी द्विस्थानक ही बंधता है, एकस्थानक बंधता ही नहीं है। इसी कारण कहा है कि केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण का एकस्थानक रसबंध होता ही नहीं—'एगठाणी न केवलदुगस्स'।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरा प्रश्न था कि अपूर्वकरणगुणस्थान वाला हास्यादि का एकस्थानक रसबंध क्यों नहीं करता है ?

इसके उत्तर में बताया है—

पूर्वोक्त मतिज्ञानावरणादि सत्रह प्रकृतियों के सिवाय शेष अशुभ प्रकृतियों का एकस्थानक रसबंध सम्भव नहीं है—'सेसासुभाण वि न'। क्योंकि क्षपक जीव के अपूर्वकरणगुणस्थान में और इतर—प्रमत्त, अप्रमत्त संयतगुणस्थान में संज्वलन कषायों का उदय होने पर भी उस प्रकार की शुद्धि नहीं होती है—'न तारिसा सुद्धी,' जिससे एकस्थानक रस का बंध हो सके और जब एकस्थानक रसबंधयोग्य परम प्रकर्ष को प्राप्त विशुद्धि अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थान के संख्यात भाग बीतने के पश्चात् होती है, तब मतिज्ञानावरणादि सत्रह प्रकृतियों के सिवाय अन्य किन्हीं भी अशुभ प्रकृतियों का बंध नहीं होता और जब उनका बंध ही नहीं होता है तब यह सम्भव नहीं है कि मतिज्ञानावरणादि सत्रह के सिवाय अन्य किन्हीं भी अशुभ प्रकृतियों का एकस्थानक रसबंध हो सके।

तीसरा प्रश्न था कि संक्लिष्ट मिथ्यादृष्टि शुभप्रकृतियों का एकस्थानक रसबंध क्यों नहीं करता है ?

इसका समाधान किया है—

मिथ्यादृष्टि संक्लिष्ट परिणामी जीव शुभप्रकृतियों का एकस्थानक रस बांधता ही नहीं है। यद्यपि उत्कृष्ट संक्लेश होने पर शुभ प्रकृतियों का एकस्थानक रसबंध सम्भव है, उत्कृष्ट संक्लेश के अभाव में नहीं। परन्तु शुभ प्रकृतियों का अतिसंक्लिष्ट मिथ्यादृष्टि होने पर बंध नहीं होता है, कुछ विशुद्ध परिणाम होने पर बंध होता है। जिससे शुभ प्रकृतियों का भी जघन्यातिजघन्य द्विस्थानक रस का ही बंध होता है, एकस्थानक रस का बंध नहीं होता है।

कदाचित् यह कहा जाये कि सप्तम नरकप्रायोग्य प्रकृतियों का बंध करने वाले अति संक्लिष्ट परिणामी मिथ्यादृष्टि के भी वैक्रिय-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्विक, तैजस आदि शुभ प्रकृतियों का बंध होता है, तो उस समय उसको एकस्थानक रसबंध होना क्यों नहीं माना जाये ? तो प्रत्युत्तर में समझना चाहिये कि नरकप्रायोग्य प्रकृतियों का बंध करते समय वैक्रिय, तैजस आदि जो शुभ प्रकृतियां बंधती हैं उनका भी तथा-स्वभाव से जघन्यपद में द्विस्थानक रसबंध ही होता है, एकस्थानक रस बंधता ही नहीं है और इसका कारण है जीवस्वभाव।

इस प्रकार से जिज्ञासु के तीन प्रश्नों का समाधान करने के पश्चात् अब आचार्य एक और प्रासंगिक प्रश्न का समाधान करते हैं। प्रश्न और उत्तर इस प्रकार है—

उक्कोसठिईअज्झवसाणेहिं एगठाणिओ होही।
सुभियाण तन्न जं ठिइ असंखगुणिया उ अणुभागा ॥५४॥

शब्दार्थ—**उक्कोस**—उत्कृष्ट, **ठिईअज्झवसाणेहिं**—स्थितिबंध के योग्य अध्यवसायों द्वारा, **एगठाणिओ**—एकस्थानक, **होही**—होगा, **सुभियाण**—शुभ प्रकृतियों का, **तन्न** वैसा नहीं है, **जं**—क्योंकि, **ठिइ**—स्थिति (बंधाध्यवसायों से), **असंखगुणिया**—असंख्यात गुणे, **उ**—ही, **अणुभागा**—अनुभागबंधयोग्य अध्यवसाय।

गाथार्थ—उत्कृष्ट स्थितिबंध के योग्य अध्यवसायों द्वारा शुभ प्रकृतियों का एकस्थानक रसबंध होगा। (उत्तर) शुभ प्रकृतियों का वैसा नहीं है। क्योंकि स्थितिबंधयोग्य अध्यवसायों से अनुभागबंधयोग्य अध्यवसाय असंख्यातगुणे हैं।

विशेषार्थ—उत्कृष्ट संक्लेश द्वारा उत्कृष्ट स्थितिबंध और जघन्य अनुभागबंध होता है। इसी दृष्टि को आधार बनाकर जिज्ञासु ने अपना प्रश्न उपस्थित किया है—

शुभ अथवा अशुभ सभी प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध उत्कृष्ट संक्लेश में वर्तमान जीव के होता है, उत्कृष्ट संक्लेश बिना नहीं होता है। जैसा कि कहा है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'सव्वठिईणमुक्कोसगो उक्कोस संकिलेसेणं ।'

सभी प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध उत्कृष्ट संक्लेश द्वारा होता है।

इसलिये जिन अध्यवसायों द्वारा शुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध होगा, उन्हीं अध्यवसायों द्वारा उनका एकस्थानक रसबंध भी होगा। जिससे ऐसा कैसे कहा जा सकता है कि शुभ प्रकृतियों का एकस्थानक रसबंध होता ही नहीं है ?

इस तर्क का समाधान करते हुए आचार्यश्री स्थिति स्पष्ट करते हैं कि जिन अध्यवसायों से शुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है, उन्हीं से उनका एकस्थानक रसबंध नहीं होता है। क्योंकि 'असंखगुणिया उ अणुभागा' अर्थात् स्थितिबंधयोग्य अध्यवसायों से रसबंधयोग्य अध्यवसाय असंख्यातगुणे हैं। इसलिये उक्त कथन असंगत है। इसका आशय यह हुआ कि प्रथम स्थितिस्थान से प्रारम्भ कर उत्तरोत्तर प्रति समय बढ़ते-बढ़ते कुल मिलाकर असंख्यात स्थितिविशेष—स्थितिस्थान होते हैं और उस एक-एक स्थिति में असंख्यात रसस्पर्धक[1] होते हैं। इसलिये जब उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है तब प्रत्येक स्थिति में—स्थितिस्थान में जो असंख्याता रसस्पर्धकों के समूह विशेष होते हैं, वे सभी द्विस्थानक रस वाले ही होते हैं, एकस्थानक रस के नहीं। इसी कारण उत्कृष्ट स्थितिबंध योग्य अध्यवसायों द्वारा भी शुभ प्रकृतियों का जीवस्वभाव से द्विस्थानक रसबंध ही होता है किन्तु एकस्थानक नहीं होता है।

---

१. असंख्यात रसस्पर्धक होने का कारण यह है—कोई भी एक स्थितिबंध असंख्यात समय प्रमाण बंधता है, इसी प्रकार उत्कृष्ट स्थितिबंध भी असंख्यात समय प्रमाण ही बंधता है। प्रत्येक स्थितिस्थान में असंख्याता स्पर्धक होते हैं, इसीलिए उत्कृष्ट स्थिति जितने समय प्रमाण बंधती है, उससे स्पर्धकसंघात असंख्यातगुणे होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार से शुभ प्रकृतियों के द्विस्थानक रसबंध के कारण को स्पष्ट करने के बाद अब जिज्ञासु द्वारा सत्ता के सम्बन्ध में प्रस्तुत प्रश्न का समाधान करते हैं।

सत्ताविषयक प्रश्न का समाधान

दुविहमिह संतकम्मं धुवाधुवं सूइयं च सद्देण।
धुवसंतं चिय पढमा जओ न नियमा विसंजोगो ॥५५॥

शब्दार्थ—**दुविहं**—दो प्रकार, **इह**—यहाँ, **संतकम्मं**—कर्मों की सत्ता, **धुवाधुवं**—ध्रुव और अध्रुव, **सूइयं**—सूचित की है—बताई है, **च सद्देण**—च शब्द से, **धुवसंतं**—ध्रुवसत्ता, **चिय**—अवश्य, **पढमा**—प्रथम, **जओ**—क्योंकि, **न**—नहीं, **नियमा**—नियम से, **विसंजोगो**—विसंयोजना।

गाथार्थ—च शब्द द्वारा सत्ताद्वार गाथा में जो ध्रुव और अध्रुव इस तरह दो प्रकार की सत्ता बतलाई है, उसमें प्रथम कषायों (अनन्तानुबंधि कषायों) की अवश्य ही ध्रुवसत्ता है। क्योंकि गुणप्राप्ति के बिना उनकी विसंयोजना नहीं है।

विशेषार्थ—पूर्व में (चौदहवीं गाथा की व्याख्या के प्रसंग में) सत्ता दो प्रकार की बतलाई है—ध्रुवसत्ता और अध्रुवसत्ता। उसमें से सम्यक्त्वादि उत्तरगुणों की प्राप्ति से पूर्व सभी संसारी जीवों में जिन प्रकृतियों की निरन्तर सत्ता पाई जाती है, वे प्रकृतियां ध्रुवसत्ता वाली कहलाती हैं। ऐसी ध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियां एक सौ चार हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं—

ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणनवक, साता-असाता वेदनीय, मिथ्यात्व, सोलह कषाय, नव नोकषाय, तिर्यंचद्विक, जातिपंचक, औदारिकद्विक, तैजस, कार्मण, संस्थानषट्क, संहननषट्क, वर्णादिचतुष्क, विहायोगतिद्विक, पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, अ गुरुलघु,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्माणनाम, उपघात, त्रसदशक, स्थावरदशक, नीचगोत्र, अंतराय-पंचक।[1]

इन एक सौ चार प्रकृतियों के अलावा शेष प्रकृतियां अध्रुवसत्ता वाली हैं। इसका कारण यह है कि सम्यक्त्वादि उत्तरगुणों की प्राप्ति से पूर्व भी जीवों में जिन प्रकृतियों की सत्ता किसी समय पाई जाये और किसी समय न पाई जाये अर्थात् जिनकी सत्ता कादाचित्क हो, उन्हें अध्रुवसत्ताका कहते हैं।

उक्त ध्रुवसत्ता और अध्रुवसत्ता के लक्षण को आधार बनाकर जिज्ञासु पूछता है—

प्रश्न—अनन्तानुबंधि कषायों की उद्वलना होने पर उनकी सत्ता का नाश हो जाता है और मिथ्यात्व के योग से पुनः उनका बंध होने पर वे सत्ता को प्राप्त हो जाती हैं। इसलिये उनको अध्रुवसत्ता वाली मानना चाहिये।

उत्तर—यह कथन योग्य नहीं है। क्योंकि अनन्तानुबंधि कषायों की विसंयोजना सम्यक्त्वादि गुणों की प्राप्ति के बिना तो होती ही नहीं है, किन्तु सम्यक्त्वादि गुणों की प्राप्ति से होती है और उत्तरगुणों की प्राप्ति के द्वारा जिन प्रकृतियों की सत्ता का नाश होता है, वे प्रकृतियां अध्रुवसत्तावाली नहीं हैं। अर्थात् उत्तरगुणों की प्राप्ति से होने वाला सत्ता का नाश अध्रुवसत्ता के व्यपदेश का हेतु नहीं है। यदि उत्तरगुणों की प्राप्ति के द्वारा होने वाला सत्ता का नाश अध्रुवसत्ता के व्यपदेश का हेतु हो तो सभी प्रकृतियां अध्रुवसत्ता के योग्य

---

१ यहाँ जो एक सौ चार प्रकृतियां बतलाई हैं, उनमें वर्णादि चार की ही विवक्षा की है तथा बंधन और संघातन नामकर्म के भेदों की विवक्षा नहीं की है। यदि सत्तायोग्य प्रकृतियों की संख्या की अपेक्षा इनकी गणना की जाये तब वर्णादि चार के बजाय बीस और बंधन, संघातन की पांच-पांच प्रकृतियों को मिलाने पर कुल संख्या १३० होगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानी जायेगी। क्योंकि उत्तरगुणों की प्राप्ति होने पर तो सभी प्रकृतियों की सत्ता का नाश होता है। इसीलिये ध्रुवसत्ता के लक्षण में बताया है कि उत्तरगुणों की प्राप्ति से पूर्व भी प्रत्येक जीव को जिन प्रकृतियों की प्रतिसमय सत्ता पाई जाये, उसे ध्रुवसत्ता कहते हैं। अतएव उत्तरगुणों की प्राप्ति से पूर्व तो प्रत्येक जीव को प्रतिसमय अनन्तानुबंधि कषायों की सत्ता होती है, जिससे अनन्तानुबंधि कषायें ध्रुवसत्तावाली ही हैं।

सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, तीर्थंकरनाम और आहारकद्विक ये प्रकृतियां उत्तरगुणों की प्राप्ति के पश्चात् ही सत्ता में आती हैं। इसलिये उन प्रकृतियों की अध्रुवसत्ता स्वयंसिद्ध ही है तथा शेष वैक्रियषट्क आदि प्रकृतियां उत्तरगुणों की प्राप्ति से पूर्व निरन्तर सत्ता में रहें ऐसा कोई नियम नहीं है, इसलिये उनकी भी अध्रुवसत्ता समझना चाहिए।

इस प्रकार से वर्गीकरण के एक प्रकार में संकलित प्रकृतियों का सांगोपांग विवेचन जानना चाहिये। इसी तरह एक और दूसरे प्रकार से भी कर्मसाहित्य में प्रकृतियों का वर्गीकरण किया गया है। दूसरे प्रकार से जिन वर्गों में प्रकृतियों का वर्गीकरण किया गया है, उन वर्गों के नामों का संकेत करने वाली अन्यकर्तृक दो गाथायें इस प्रकार हैं—

अणुदयउदओभयबंधिणी उ उभबंधउदयवोच्छेया।
संतरउभयनिरन्तरबंधा उदसंकमुक्कोसा ॥क॥
अणुदयसंकमजेट्ठा उदएणुदए य बंधउक्कोसा।
उदयाणुदयवईओ तितितिचउदुहा उ सव्वाओ ॥ख॥

शब्दार्थ— **अणुदयउदओभयबंधणी**—अनुदयबंधिनी, उदयबंधिनी और उभयबंधिनी, **उ**—और, **उभबंधउदयवोच्छेया**—उभयबंधोदया व्यवच्छिद्यमाना, **संतरउभयनिरन्तरबंधा**—सांतर, उभय और निरन्तरबंधिनी, **उदसंकमुक्कोसा**—उदयसंक्रमोत्कृष्टा।

अणुदयसंकमजेट्ठा—अनुदयसंक्रमोत्कृष्टा, **उदएणुदए**—उदय और अनु-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दय से, य—और, **बंधउक्कोसा**—बंधोत्कृष्टा, **उदयाणुदयवईओ**—उदयवती और अनुदयवती, **तितितिचउदुहा**—तीन, तीन, तीन, चार और दो प्रकार की, **उ**—और, **सव्वाओ**—सभी ।

गाथार्थ—अनुदयबंधिनी, उदयबंधिनी और उभयबंधिनी, समक, क्रम और उत्क्रम व्यवच्छिद्यमान बंधोदया, सांतर, उभय और निरन्तर बंधिनी, उदयसंक्रमोत्कृष्टा तथा अनुदयसंक्रमोत्कृष्टा, उदयबंधोत्कृष्टा और अनुदयबंधोत्कृष्टा, उदयवती और अनुदयवती, इस प्रकार से सभी प्रकृतियां अनुक्रम से तीन, तीन, तीन, चार और दो प्रकार की हैं ।

विशेषार्थ—उक्त दो गाथाओं में दूसरे प्रकार से किये गये प्रकृतियों के वर्गीकरण की संज्ञाओं को बताया है । उक्त संज्ञाओं के नाम और लक्षण इस प्रकार हैं—

१ बंध की अपेक्षा कर्म प्रकृतियां तीन प्रकार की हैं—स्वानुदयबंधिनी, स्वोदयबंधिनी और उभयबंधिनी । अपने अनुदयकाल में जिन प्रकृतियों का बंध हो, वे प्रकृतियां स्वानुदयबंधिनी कहलाती हैं । अपने उदय काल में ही जिनका बंध हो उन्हें स्वोदयबंधिनी और अपने उदय होने या न होने पर भी जिन प्रकृतियों का बंध हो उन्हें उभयबंधिनी कहते हैं ।

२ विच्छेद की अपेक्षा प्रकृतियां तीन प्रकार की हैं—समकव्यवच्छिद्यमान बंधोदया, क्रमव्यवच्छिद्यमान बंधोदया और उत्क्रमव्यवच्छिद्यमान बंधोदया । इनमें से जिन प्रकृतियों का बंध और उदय एक साथ विच्छिन्न होता है उनको समकव्यवच्छिद्यमान बंधोदया तथा जिन प्रकृतियों का पहले बंध और पश्चात् उदय विच्छेद होता है, उनको क्रमव्यवच्छिद्यमान बंधोदया और पहले उदय और बाद में बंध इस प्रकार उत्क्रम से जिनके बंध और उदय का विच्छेद होता है, उन्हें उत्क्रमव्यवच्छिद्यमान बंधोदया प्रकृति कहते हैं ।[1]

---

१ इन तीनों प्रकारों को गाथा में प्रस्तुत 'उभबंधउदयवोच्छेया' पद द्वारा ग्रहण किया गया है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३ सांतर, निरन्तर और उभय बंध की अपेक्षा भी प्रकृतियों के तीन प्रकार हैं—सांतरबंधिनी, उभयबंधिनी और निरन्तरबंधिनी। इनके लक्षण यथास्थान आगे दिये जा रहे हैं।

४ उदय और अनुदय अवस्था में जिन प्रकृतियों की संक्रम से उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है, उसकी अपेक्षा दो तथा बंध से उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है, उसकी अपेक्षा दो इस तरह प्रकृतियों के चार प्रकार भी हैं—उदयसंक्रमोत्कृष्टा, अनुदयसंक्रमोत्कृष्टा, उदयबंधोत्कृष्टा, अनुदयबंधोत्कृष्टा।

५ प्रकृतियां अन्य भी दो प्रकार की हैं—उदयवती और अनुदयवती।

उदयसंक्रमोत्कृष्टा आदि चारों और उदयवती, अनुदयवती पदों के लक्षण स्वयं ग्रन्थकार यथायोग्य स्थान पर कहने वाले हैं, जिससे यहाँ उनके लक्षण नहीं कहे हैं।

इस प्रकार से द्वितीय वर्गीकरण में संकलित भेदों की कुल संख्या पन्द्रह है। अब प्रत्येक वर्ग में संकलित प्रकृतियों के नामों का निर्देश करते हैं।

स्वानुदयबंधिनी आदित्रिक प्रकृतियां

देवनिरयाउवेउव्विछक्क आहारजुयलतित्थाणं।
बंधो अणुदयकाले धुवोदयाणं तु उदयम्मि ॥५६॥

शब्दार्थ—देवनिरयाउ—देवायु और नरकायु, **वेउव्विछक्क**—वैक्रियषट्क, **आहारजुयल**—आहारकद्विक, **तित्थाणं**—तीर्थंकरनामकर्म का, **बंधो**—बंध, **अणुदयकाले**—अनुदयकाल में, **धुवोदयाणं**—ध्रुवोदया प्रकृतियों का, **तु**—और, **उदयम्मि**—उदयकाल में।

गाथार्थ—देवायु, नरकायु, वैक्रियषट्क, आहारकद्विक और तीर्थंकरनाम इतनी प्रकृतियों का जब अपना उदय न हो (अनु-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दयकाल में) तब बंध होता है और ध्रुवोदया प्रकृतियों का अपना उदय होने पर बंध होता है।

विशेषार्थ—गाथा में स्वानुदयबंधिनी, स्वोदयबंधिनी और उभय-बंधिनी प्रकृतियों के नाम बतलाये हैं। इन तीन प्रकार की प्रकृतियों में से स्वानुदयबंधिनी प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

'देवनिरयाउ' इत्यादि अर्थात् देवायु व नरकायु, देवगति, देवानुपूर्वी, नरकगति, नरकानुपूर्वी, वैक्रियशरीर और वैक्रिय-अंगोपांग[1] रूप वैक्रियषट्क, आहारकशरीर, आहारक-अगोपांग रूप आहारकद्विक और तीर्थंकरनाम इन ग्यारह प्रकृतियों का बंध जब इनका अपना उदय न हो उस समय होता है। इसी कारण ये ग्यारह प्रकृतियां अनु-दयबंधिनी प्रकृतियां कहलाती हैं।

उक्त ग्यारह प्रकृतियों को अनुदयबंधिनी प्रकृति मानने का कारण यह है कि देवत्रिक का उदय देवगति में और नरकत्रिक का उदय नरकगति में और वैक्रियद्विक का उदय दोनों गतियों में होता है। लेकिन देव और नारक भवस्वभाव से ही इन प्रकृतियों का बंध नहीं करते हैं। तीर्थंकरनामकर्म का उदय केवलज्ञान प्राप्त होने पर होता है, परन्तु उस समय इस प्रकृति का बंध नहीं होता है। क्योंकि अपूर्व-करणगुणस्थान में ही इसका बंधविच्छेद हो जाता है तथा आहारक-शरीर करने में प्रवृत्त जीव लब्धिप्रयोग के कार्य में व्यग्र होने से प्रमत्त हो जाता है, जिससे तथा उसके बाद के समय में तथाप्रकार की शुद्धि का अभाव होने से मन्द संयमस्थानवर्ती होने से आहारकशरीर और

---

१ वैक्रियशरीर और वैक्रिय-अंगोपांग अपना उदय न हो तब बंध होता है, ऐसा कथन भवप्रत्ययिक की विवक्षा से किया गया प्रतीत होता है। क्योंकि वैक्रियशरीरी मनुष्य, तिर्यंच देव-प्रायोग्य या नरक-प्रायोग्य प्रकृतियों का बंध करते हुए वैक्रियद्विक को बांधते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आहारक-अंगोपांग का बंध नहीं करता है। इसीलिए ये सभी ग्यारह प्रकृतियां स्वानुदयबंधिनी कहलाती हैं।

स्वोदयबंधिनी प्रकृतियां इस प्रकार हैं—

'धुवोदयाणं' अर्थात् ध्रुवोदया प्रकृतियां स्वोदयबंधिनी हैं। जिनके नाम हैं—ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणचतुष्क, अन्तरायपंचक, मिथ्यात्वमोहनीय, निर्माण, तैजस, कार्मण, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, अगुरुलघु और वर्णचतुष्क। इन सभी सत्ताईस प्रकृतियों का उदय होने पर ही बंध होता है। क्योंकि ये सभी प्रकृतियां ध्रुवोदया हैं और ध्रुवोदया होने से उनका सदैव उदय होता है।

पूर्वोक्त ग्यारह और सत्ताईस प्रकृतियों से शेष रही निद्रापंचक, जातिपंचक, संस्थानषट्क, संहननषट्क, सोलह कषाय, नव नोकषाय, पराघात, उपघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, साता-असातावेदनीय, उच्चगोत्र, नीचगोत्र, मनुष्यत्रिक, तिर्यंचत्रिक, औदारिकद्विक, विहायोगतिद्विक, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, सुस्वर, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति, दुःस्वर, दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्ति रूप बयासी प्रकृतियां स्वोदयानुदयबंधिनी हैं। क्योंकि ये सभी प्रकृतियां मनुष्य, तिर्यंच को उदय हो अथवा न हो तब बंधती हैं।[1] इसीलिए इन प्रकृतियों को स्वोदयानुदयबंधिनी कहते हैं।[2]

---

१ यहाँ मनुष्य, तिर्यंच के उदय हो या न हो तब बंधती हैं—ऐसा कहने का कारण यह है कि उक्त प्रकृतियों में वे प्रकृतियां हैं जिनको प्रायः मनुष्य तिर्यंच बांधते है। देव, नारक भी उक्त प्रकृतियों में से उनको जिनका उदय संभव हो सकता है, उनका उदय हो या न हो, लेकिन उक्त प्रकृतियों में से स्वयोग्य प्रकृतियां बांधते हैं।

२ गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा ४०२, ४०३ में इसी प्रकार से अनुदय, उदय और उभयबंधिनी प्रकृतियों को बतलाया है— —→

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार से अनुदय, उदय और उभय बंधिनी संज्ञाओं में संकलित प्रकृतियों को जानना चाहिए। अब जिन प्रकृतियों का साथ एवं क्रम, उत्क्रम से बंध और उदय का विच्छेद होता है, उनके त्रिक को बतलाते हैं।

समकव्यवच्छिद्यमान आदित्रिक प्रकृतियां

गयचरमलोभ धुवबंधि मोहहासरइ मणुयपुव्वीणं।
सुहमतिगआयवाणं सपुरिसवेयाण बंधुदया ॥५७॥
वोच्छिज्जंति समंचिय कमसो सेसाण उक्कमेणं तु।
अट्ठण्हमजससुरतिग वेउव्वाहारजुयलाणं ॥५८॥

शब्दार्थ—**गयचरमलोभ**—चरम (संज्वलन) लोभ के बिना, **धुवबंधि**—ध्रुवबंधिनी प्रकृतियां, **मोह**—मोहनीयकर्म की, **हासरइ**—हास्य-रति, **मणुय-**

सुरणिरयाऊ तित्थं वेगुव्वियछक्क हारमिदि जेसिं।
पर उदयेण य बंधो मिच्छं सुहुमस्स घादीओ ॥
तेजदुगं वण्णचऊ थिरसुह जुगलगुरुणिमिणधुवउदया।
सोदयबंधा सेसा बासीदा उभयबंधाओ ॥

देवायु, नरकायु, तीर्थंकरनाम, वैक्रियषट्क, आहारकद्विक, इन ग्यारह प्रकृतियों का पर के उदय से बंध होता है और मिथ्यात्व, सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान में व्युच्छिन्न होने वाली घातियाकर्मों की चौदह प्रकृतियां, तैजसयुगल, वर्णादिचतुष्क, स्थिर और शुभ का युगल, अगुरुलघु, निर्माण रूप ध्रुवोदया बारह प्रकृतियां, कुल मिलाकर सत्ताईस प्रकृतियों का अपना उदय होने पर ही बंध होता है तथा शेष रही पांच निद्रा आदि बयासी प्रकृतियां उभयबंधिनी हैं। अर्थात् इनका उदय होने पर अथवा न होने पर भी बंध होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुव्वीण—मनुष्यानुपूर्वी, **सुहुमतिग**—सूक्ष्मत्रिक, **आयवाणं**—आतपनाम, **सपुरिसवेयाण**—पुरुषवेदसहित, **बंधुदया**—बंध और उदय।

वोच्छिज्जन्ति—विच्छेद होता है, **समंचिय**—साथ ही, **कमसो**—क्रम से, **सेसाण**—शेष प्रकृतियों का, **उक्कमेण**—उत्क्रम से, **तु**—और, **अट्ठण्हं**—आठ का, **अजस**—अयशःकीर्ति, **सुरतिग**—देवत्रिक, **वेउव्वाहारजुयलाण**—वैक्रियद्विक और आहारकद्विक का।

गाथार्थ—संज्वलन लोभ के बिना मोहनीयकर्म की ध्रुवबंधिनी और हास्य, रति, मनुष्यानुपूर्वी, सूक्ष्मत्रिक, आतप और पुरुषवेद इतनी प्रकृतियों का बंध और उदय साथ ही विच्छेद होता है और शेष प्रकृतियों का क्रम से विच्छेद होता है लेकिन अयशःकीर्ति, देवत्रिक, वैक्रियद्विक और आहारकद्विक इन आठ प्रकृतियों का उत्क्रम से बंध और उदय का विच्छेद होता है।

विशेषार्थ—उक्त गाथाद्वय में समक, क्रम और उत्क्रम व्यवच्छिद्यमान बंधोदया प्रकृतियों को बतलाया है। उनमें से पहले समकव्यवच्छिद्यमान प्रकृतियों को बतलाते हैं—

संज्वलन लोभ को छोड़कर मोहनीयकर्म की ध्रुवबंधिनी पन्द्रह कषाय, मिथ्यात्व, भय और जुगुप्सा ये अठारह तथा हास्य, रति, मनुष्यानुपूर्वी, सूक्ष्म, साधारण और अपर्याप्त रूप सूक्ष्मत्रिक, आतपनाम और पुरुषवेद कुल मिलाकर छब्बीस प्रकृतियों का बंध और उदय साथ ही विच्छिन्न होता है। यानी इन प्रकृतियों का जिस गुणस्थान में बंधविच्छेद होता है, उसी गुणस्थान में उदयविच्छेद भी होता है। जिससे ये प्रकृतियां समकव्यवच्छिद्यमान बंधोदया प्रकृति कहलाती हैं। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

सूक्ष्मत्रिक, आतप और मिथ्यात्वमोहनीय का पहले मिथ्यादृष्टिगुणस्थान में, अनन्तानुबंधिकषायचतुष्क का दूसरे सासादनगुणस्थान में, मनुष्यानुपूर्वी और अप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क इन पांच प्रकृतियों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का चौथे अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान में, प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क का पांचवें देशविरतगुणस्थान में, हास्य, रति, भय और जुगुप्सा इन चार प्रकृतियों का आठवें गुणस्थान में, संज्वलन क्रोध, मान, माया और पुरुषवेद का नौवें अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थान में साथ ही बंध और उदय का विच्छेद होता है। जिससे ये छब्बीस प्रकृतियां समकव्यवच्छिद्यमान बंधोदया प्रकृतियां कहलाती हैं।[1]

इन छब्बीस प्रकृतियों के अतिरिक्त शेष प्रकृतियां क्रमव्यवच्छिद्यमान बंधोदया प्रकृतियां हैं। लेकिन इतना विशेष है कि आगे कही जाने वाली अयशःकीर्ति आदि आठ प्रकृतियों को और कम कर देना चाहिये। अतएव बंधयोग्य एक सौ बीस प्रकृतियों में से छब्बीस और आठ प्रकृतियों को कम करने पर शेष रही छियासी प्रकृतियां क्रमव्यवच्छिद्यमान बंधोदया जानना चाहिये। अर्थात् इन छियासी प्रकृतियों के बंध और उदय का क्रमपूर्वक यानि पहले बंध का और उसके बाद उदय का विच्छेद होता है। जिनके नाम इस प्रकार हैं—

ज्ञानावरणपंचक, अंतरायपंचक, दर्शनावरणचतुष्क, निद्रापंचक, वेदनीयद्विक, संस्थानषट्क, अप्रशस्तविहायोगति, सुस्वर, दुःस्वर, औदारिकद्विक, प्रथम संहनन, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, तैजस, कार्मण, वर्णचतुष्क, अगुरुलघुचतुष्क, प्रत्येक, निर्माण, मनुष्यत्रिक, जातिपंचक, त्रस, स्थावर, बादर, पर्याप्त, सुभग, दुर्भग, आदेय, अनादेय, तीर्थंकरनाम, यशःकीर्ति, उच्चगोत्र, नीचगोत्र, नरकत्रिक, अंतिम संहनन, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, तिर्यंचत्रिक, उद्योत, मध्यम संहननचतुष्क, अरति, शोक, संज्वलन लोभ।

---

१ दिगम्बर परम्परा में उक्त प्रकृतियों के साथ एकेन्द्रियादि जातिचतुष्क और स्थावर इन पांच प्रकृतियों को समकव्यवच्छिद्यमान बंधोदय वर्ग में माना है। वहाँ इन प्रकृतियों की संख्या ३१ है। देखिये—पंचसंग्रह कर्मस्तवचूर्णिका गाथा ६८, ६९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन छियासी प्रकृतियों को क्रमव्यवच्छिद्यमान बंधोदया मानने का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

ज्ञानावरणपंचक, अंतरायपंचक और दर्शनावरणचतुष्क इन चौदह प्रकृतियों का बंधविच्छेद तो दसवें सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के चरम समय में और उदयविच्छेद बारहवें क्षीणमोहगुणस्थान के चरम समय में होता है।

निद्रा और प्रचला का अपूर्वकरणगुणस्थान के प्रथम भाग में बंधविच्छेद और क्षीणमोहगुणस्थान के द्विचरम समय में उदयविच्छेद होता है।

असातावेदनीय का प्रमत्तसंयतगुणस्थान में और सातावेदनीय का सयोगिकेवलीगुणस्थान के चरम समय में बंधविच्छेद और दोनों में से अन्यतर का उदयविच्छेद सयोगिकेवली अथवा अयोगिकेवली गुणस्थान के चरम समय में होता है।

अंतिम संस्थान—हुण्डसंस्थान का मिथ्यादृष्टिगुणस्थान में, मध्यम संस्थानचतुष्क, अप्रशस्तविहायोगति और दुःस्वरनाम का सासादनगुणस्थान में, औदारिकद्विक और प्रथम संहनन का अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान में, अस्थिर और अशुभ का प्रमत्तसंयतगुणस्थान में, तैजस, कार्मण, समचतुरस्रसंस्थान, वर्णचतुष्क, अगुरुलघुचतुष्क, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुस्वर और निर्माणनाम का आठवें अपूर्वकरणगुणस्थान के छठे भाग में बंधविच्छेद होता है किन्तु अन्तिम संस्थान से लेकर निर्माणनाम पर्यन्त पूर्वोक्त अट्ठाईस प्रकृतियों का उदयविच्छेद सयोगिकेवलीगुणस्थान के चरम समय में होता है।

मनुष्यत्रिक[1] का अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान में, पंचेन्द्रियजाति,

---

१ आचार्य मलयगिरिसूरि ने यहाँ मनुष्यत्रिक में मनुष्यानुपूर्वी का ग्रहण किया है और उसका उदयविच्छेद अयोगि के चरम समय में होता है, ऐसा कहा है। यह विचारणीय है। क्योंकि किसी भी आनुपूर्वी का उदय पहले, दूसरे

—→

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, तीर्थंकरनाम का अपूर्वकरणगुण-स्थान के छठे भाग में तथा यशःकीर्ति और उच्चगोत्र का सूक्ष्मसंपराय के चरम समय में बंधविच्छेद और इन सभी बारह प्रकृतियों का अयोगि-केवलीगुणस्थान के चरम समय में उदयविच्छेद होता है।

स्थावरनाम, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जातिनाम तथा नरकत्रिक और अन्तिम संहनन तथा नपुंसकवेद का मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में बंधविच्छेद और उदयविच्छेद अनुक्रम से सासादन, अविरत-सम्यग्दृष्टिगुणस्थान, अप्रमत्तसंयतगुणस्थान और अनिवृत्तिबादरसंपराय-गुणस्थान में होता है।

स्त्रीवेद का बंधविच्छेद सासादनगुणस्थान में और उदयविच्छेद नौवें अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थान में होता है।

तिर्यंचानुपूर्वी, दुर्भग और अनादेय तथा तिर्यंचगति, तिर्यंचायु, उद्योत और नीचगोत्र तथा स्त्यानर्धित्रिक का तथा चौथे पांचवें संहनन का तथा दूसरे तीसरे संहनन का बंधविच्छेद तो सासादनगुणस्थान में होता है और उदयविच्छेद अनुक्रम से अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान में, देशविरतगुणस्थान में, प्रमत्तसंयतगुणस्थान में, अप्रमत्तसंयतगुणस्थान में और उपशांतमोहगुणस्थान में होता है।

अरति, शोक का बंधविच्छेद प्रमत्तसंयतगुणस्थान में और उदय-विच्छेद अपूर्वकरणगुणस्थान में होता है।

और चौथे इन तीन गुणस्थानों में होता है। कदाचित् प्रदेशोदय की अपेक्षा से कहा जाये तो वह भी योग्य नहीं है। क्योंकि प्रदेशोदय में संहनन, संस्थान नामकर्म आदि तिहत्तर प्रकृतियां होती हैं। इसलिए बंध और उदय चौथे गुणस्थान में हो जाने से उसे समकव्यवच्छिद्यमानबंधोदयवर्ग में ग्रहण करना योग्य प्रतीत होता है। विज्ञजन स्पष्ट करने की कृपा करें।

दिगम्बर कार्मग्रन्थिकों ने मनुष्यानुपूर्वी का समकव्यवच्छिद्यमान-बंधोदयवर्ग में समावेश किया है। देखें—कर्मस्तवचूलिका, गाथा ६८, ६९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संज्वलन लोभ का बंधविच्छेद नौवें अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थान के चरम समय में और उदयविच्छेद दसवें सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के चरम समय में होता है।

इस प्रकार से ये छियासी प्रकृतियां क्रम से बंध और उदय में विच्छिन्न होने से क्रमव्यवच्छिद्यमान बंधोदया कहलाती हैं।[1]

पूर्वोक्त छब्बीस और छियासी प्रकृतियों से शेष रही अयशःकीर्ति, देवत्रिक, वैक्रियद्विक और आहारकद्विक इन आठ प्रकृतियों का पहले उदयविच्छेद और बाद में बंधविच्छेद होने से ये उत्क्रमव्यवच्छिद्यमान बंधोदया कहलाती हैं। सम्बन्धित स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

अयशःकीर्ति का प्रमत्तसंयतगुणस्थान में, देवायु का अप्रमत्तसंयत-गुणस्थान में, देवद्विक और वैक्रियद्विक का अपूर्वकरणगुणस्थान में बंधविच्छेद होता है, लेकिन इन छहों प्रकृतियों का उदयविच्छेद चौथे गुणस्थान में होता है तथा आहारकद्विक का अपूर्वकरणगुणस्थान में बंधविच्छेद और अप्रमत्तसंयतगुणस्थान में उदयविच्छेद होता है।

---

१ आचार्य मलयगिरिसूरि ने क्रमव्यवच्छिद्यमान बंधोदया प्रकृतियों के जो छियासी (८६) नाम बतलाये हैं। उनमें से कुछ नाम स्वोपज्ञवृति में किये गये नामोल्लेख से भिन्न हैं। स्वोपज्ञवृत्ति में वे नाम इस प्रकार हैं—

ज्ञानावरणपंचक, अन्तरायपंचक, दर्शनावरणनवक, नामध्रुवोदया द्वादशक (निर्माण, स्थिर, अस्थिर, तैजस, कार्मण, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, शुभ, अशुभ), सुस्वर, दुःस्वर, विहायोगतिद्विक, औदारिकद्विक, प्रत्येक, वज्रऋषभनाराचसंहनन, उपघातत्रिक, मनुष्यायु, वेदनीयद्विक गोत्रद्विक, अयोगिनवक (मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति, तीर्थंकर), स्थावर, नरकत्रिक, जातिचतुष्क, अन्तिम संहनन, नपुंसकवेद, दुर्भग, उद्योत, अनादेय, तिर्यंचत्रिक, स्त्रीवेद, मध्यम संहननचतुष्क, संस्थानषट्क, अरति, शोक, संज्वलन लोभ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसीलिये ये आठ प्रकृतियां उत्क्रमव्यवच्छिद्यमान बंधोदया मानी जाती हैं।

इस प्रकार से समकव्यवच्छिद्यमान बंधोदया आदि तीनों वर्गों में गर्भित प्रकृतियां जानना चाहिए।[1] अब सांतरादिबंधी प्रकृतियां बतलाते हैं।

सांतरबंधी आदि प्रकृतियां

धुवबंधिणी उ तित्थगरनाम आउय चउक्क बावन्ना।
एया निरंतराओ सगवीसुभसंतरा सेसा ॥५९॥
चउरंसउसभ परघाउसासपुंसगलसायसुभखगई।
वेउव्विउरलसुरनरतिरिगोयदु सुसरतसतिचऊ ॥६०॥

---

१ (क) गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा ४००, ४०१ में इन समकव्यवच्छिद्यमानं बंधोदया आदि प्रकृतियों का उल्लेख इस प्रकार किया है—

देवचउक्काहारदुगज्जसदेवाउगाण सो पच्छा।
मिच्छत्तादावाणं णराणुथावर च उक्काणं ॥
पण्णरकसाय भयदु चउजाइ पुरिसवेदाणं।
सममेक्कत्तीसाणं सेसिगिसीदाण पुव्वं तु ॥

देवगति आदि चतुष्क, आहारकद्विक, अयशःकीर्ति और देवायु इन आठ प्रकृतियों की बंधव्युच्छित्ति उदय की व्युच्छित्ति के पीछे होती है। मिथ्यात्व, आतप, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, स्थावरचतुष्क, संज्वलन लोभ के बिना पन्द्रह कषाय, भयद्विक, हास्यद्विक, एकेन्द्रिय आदि जातिचतुष्क, पुरुषवेद इन इकतीस प्रकृतियों की उदय और बंध व्युच्छित्ति एक काल में होती है तथा इनसे शेष रही इक्यासी प्रकृतियों की उदयव्युच्छित्ति के पहले बंध-व्युच्छित्ति होती है।

(ख) दि. पंचसंग्रह कर्मस्तवचूलिका गाथा ६७, ६८, ६९, ७० में भी गो. कर्मकाण्ड के अनुरूप कथन किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समयाओ अंतमुहू उक्कोसा जाण संतरा ताओ ।
बंधेहियंमि उभया निरंतरा तम्मि उ जहन्ने ॥६१॥

शब्दार्थ—**धुवबंधिणी**—ध्रुवबंधिनी, **उ**—और, **तित्थगरनाम**—तीर्थंकरनाम, **आउयचउक्क**—आयुचतुष्क, **बावन्ना**—बावन, **एया**—ये, **निरंतराओ**—निरन्तरा, **सगवीस**—सत्ताईस, **उभ**—उभया (सान्तर-निरन्तरा) **संतरा**—सान्तरा, **सेसा**—शेष ।

चउरंस—समचतुरस्रसंस्थान, **उसभ**—वज्रऋषभनाराचसंहनन, **परघाउसास**—पराघात, उच्छ्वास, **पु**—पुरुषवेद, **सगल**—पंचेन्द्रियजाति, **साय**—सातावेदनीय, **सुभखगई**—प्रशस्तविहायोगति, **वेउव्विउरलसुरनरतिरिगोयदु**—वैक्रियद्विक, औदारिकद्विक, देवद्विक, मनुष्यद्विक, तिर्यंचद्विक, गोत्रद्विक, **सुसरतसतिचऊ**—सुस्वरत्रिक, त्रसचतुष्क ।

समयाओ—एक समय से प्रारम्भ होकर, **अंतमुहू**—अन्तर्मुहूर्त, **उक्कोसा**—उत्कृष्ट, **जाण**—जिनका, **संतरा**—सान्तरा, **ताओ**—वे, **बंधेहियंमि**—अधिक बंध, **उभया**—सांतर-निरन्तरा, **निरंतरा**—निरंतरा, **तम्मि**—उनमें, **उ**—और, **जहन्ने**—जघन्य ।

गाथार्थ—ध्रुवबंधिनी तथा तीर्थंकरनाम और आयुचतुष्क ये बावन प्रकृतियां निरंतरा हैं, सत्ताईस प्रकृतियां उभया और शेष प्रकृतियां सान्तरा हैं ।

समचतुरस्रसंस्थान, वज्रऋषभनाराचसंहनन, पराघात, उच्छ्वास, पुरुषवेद, पंचेन्द्रियजाति, सातावेदनीय, प्रशस्तविहायोगति, वैक्रियद्विक, औदारिकद्विक, देवद्विक, मनुष्यद्विक, तिर्यंचद्विक, गोत्रद्विक, सुस्वरत्रिक और त्रसचतुष्क ये सत्ताईस प्रकृतियां उभया—सान्तर-निरन्तरा हैं ।

जिन कर्मप्रकृतियों का जघन्यतः एक समय से प्रारम्भ होकर उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त बंध होता हो वे सान्तरा कहलाती हैं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा जिन प्रकृतियों का एक समय से आरम्भ होकर अन्तर्मुहूर्त से भी अधिक समय तक बंध होता हो वे सान्तर-निरन्तरा और जिन प्रकृतियों का जघन्य भी अन्तर्मुहूर्त बंध होता हो वे निरन्तरा कहलाती हैं।

विशेषार्थ—बंधयोग्य एक सौ बीस प्रकृतियों का सांतर आदि तीन वर्गों में वर्गीकरण करके प्रत्येक वर्ग में संकलित प्रकृतियों के नाम और वर्गों के लक्षण इन तीन गाथाओं में बतलाये हैं। सर्वप्रथम निरन्तर-बंधिनी प्रकृतियों को बतलाते हैं।

निरन्तरबंधिनी—जिन प्रकृतियों का जघन्य से भी अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त बंध होता है, अन्तर्मुहूर्त तक बंध में अन्तर नहीं पड़ता वे प्रकृतियां निरन्तरबंधिनी कहलाती हैं। ऐसी प्रकृतियां बावन हैं। जिनके नाम हैं—

'धुवबंधिणी' इत्यादि अर्थात् ज्ञानावरणपंचक, दर्शनावरणनवक, अंतरायपंचक, सोलह कषाय, मिथ्यात्व, भय, जुगुप्सा, अगुरुलघु, निर्माण, तैजस, कार्मण, उपघात और वर्णचतुष्क ये सैंतालीस ध्रुवबंधिनी प्रकृतियां तथा तीर्थंकरनाम और आयुचतुष्क, कुल मिलाकर बावन प्रकृतियां निरन्तरबंधिनी हैं। इन बावन प्रकृतियों को निरन्तरबंधिनी मानने का कारण यह है कि ये प्रकृतियां जघन्य से भी अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त निरंतर बंधती हैं। इस काल में किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ता है। इसीलिये ये निरन्तरबंधिनी प्रकृतियां कहलाती हैं।

निरन्तरबंधिनी प्रकृतियों को बतलाने के बाद अब सांतर-निरन्तरबंधिनी प्रकृतियों को बतलाते हैं।

सान्तर-निरन्तरबंधिनी—जिन प्रकृतियों का जघन्य समयमात्र बंध होता हो और उत्कृष्ट एक समय से प्रारम्भ कर निरन्तर अन्तर्मुहूर्त से ऊपर असंख्यात काल पर्यन्त बंध होता हो, उनको सान्तर-निरन्तरबंधिनी प्रकृति कहते हैं। ऐसी प्रकृतियां सत्ताईस हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समचतुरस्रसंस्थान, वज्रऋषभनाराचसंहनन, पराघात, उच्छ्वास, पुरुषवेद, पंचेन्द्रियजाति, सातावेदनीय, शुभविहायोगति, वैक्रियद्विक (वैक्रियशरीर, वैक्रियअंगोपांग), औदारिकद्विक, देवद्विक (देवगति, देवानुपूर्वी), मनुष्यद्विक, तिर्यंचद्विक, गोत्रद्विक (उच्चगोत्र, नीचगोत्र), सुस्वरत्रिक (सुस्वर, सुभग, आदेय), त्रसचतुष्क (त्रस, बादर, पर्याप्त और प्रत्येक) ये सत्ताईस प्रकृतियां सान्तर-निरन्तरबांधिनी हैं।

इन प्रकृतियों को सान्तर-निरन्तरबांधिनी कहने का कारण यह है कि अन्तर्मुहूर्त में बंध के आश्रय से अन्तर पड़ता है और असंख्यकाल पर्यन्त निरन्तर भी बंधती हैं। जघन्य समयमात्र बंधने के कारण ये प्रकृतियां सान्तरा हैं और उत्कृष्ट से अनुत्तर आदि के देवों को असंख्यातकाल पर्यन्त भी निरन्तर बंधती हैं, अतः अन्तर्मुहूर्त में बंध का अन्तर नहीं पड़ने से निरन्तरा कहलाती हैं।

उक्त दोनों वर्गों में संकलित प्रकृतियों से शेष रही प्रकृतियां सान्तरबांधिनी हैं।

सान्तरबंधिनी—जिन प्रकृतियों का जघन्य समयमात्र और उत्कृष्ट समय से प्रारम्भ कर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त बंध होता हो, उससे अधिक काल नहीं, वे प्रकृतियां सान्तरबांधिनी हैं। ऐसी प्रकृतियां इकतालीस हैं। जिनके नाम हैं—

असातावेदनीय, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, नरकद्विक (नरकगति, नरकानुपूर्वी), आहारकद्विक, पहले के बिना शेष पांच संस्थान, पहले के बिना शेष पांच संहनन, एकेन्द्रियादि जातिचतुष्क, आतप, उद्योत, अप्रशस्तविहायोगति, स्थिर, शुभ, यशःकीर्ति और स्थावरदशक। कुल मिलाकर ये इकतालीस प्रकृतियां सान्तरबांधिनी जानना चाहिये।

ये सभी इकतालीस प्रकृतियां जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त तक बंधती हैं। तत्पश्चात् अपने सामान्य बंधहेतुओं का सद्भाव होने पर भी तथास्वभाव से इन प्रकृतियों के बंधयोग्य अध्यव-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सायों का परावर्तन हो जाने से नहीं बंधती हैं, परन्तु उनकी प्रतिपक्षी प्रकृतियां बंधती हैं। इसीलिए ये प्रकृतियां सान्तरबंधिनी कहलाती हैं।

इस प्रकार से निरन्तरबंधिनी आदि प्रकृतियां जानना चाहिये।[1] अब उदयबंधोत्कृष्टादि प्रकृतियों को बतलाने के पूर्व उनके लक्षण कहते हैं।

उदयबंधोत्कृष्टादि के लक्षण

उदए व अणुदए वा बंधाओ अन्नसंकमाओ वा।
ठिइसंतं जाण भवे उक्कोसं ता तयक्खाओ ॥६२॥

शब्दार्थ—**उदए**—उदय, **व**—अथवा, **अणुदए**—उदय न होने, **वा**—अथवा **बंधाओ**—बंध द्वारा, **अन्नसंकमाओ**—अन्य के संक्रम द्वारा, **वा**—अथवा, **ठिइसंतं**—स्थिति की सत्ता, **जाण**—जिनकी, **भवे**—होती है, **उक्कोसं**—उत्कृष्ट, **ता**—वे, **तयक्खाओ**—उस नाम वाली कहलाती हैं।

गाथार्थ—बंध द्वारा अथवा अन्य के संक्रम द्वारा उदय होने

१ दिगम्बर कर्मग्रन्थों (गो. कर्मकाण्ड गाथा ४०४-४०७ तथा पंचसंग्रह कर्मस्तवचूलिका गा० ७४-७७) में निरन्तरबंधिनी आदि प्रकृतियों के नामों का उल्लेख इस प्रकार किया है—

ज्ञानावरणपंचक आदि सैंतालीस ध्रुवप्रकृतियां, तीर्थंकरनाम, आहारकद्विक और आयुचतुष्क—ये चउवन प्रकृतियां निरंतर बंध वाली हैं। नरकगतिद्विक, एकेन्द्रिय आदि जातिचतुष्क, अन्तिम पांच संहनन और पांच संस्थान, अप्रशस्तविहायोगति, आतप, उद्योत, स्थावरदशक, असातावेदनीय, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, अरति, शोक, ये चौंतीस प्रकृतियां सांतरबंधिनी हैं तथा देवगतिद्विक, मनुष्यगतिद्विक, तिर्यंचगतिद्विक, औदारिकद्विक, वैक्रियशरीरद्विक, प्रशस्तविहायोगति, वज्रऋषभनाराचसंहनन, पराघातयुगल, समचतुरस्रसंस्थान, पंचेन्द्रियजाति, त्रसदशक, सातावेदनीय, हास्य, रति, पुरुषवेद और गोत्रद्विक ये बत्तीस प्रकृतियां सान्तर-निरन्तरबंधिनी हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथवा उदय न होने पर जिन प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति की सत्ता होती है, वे प्रकृतियां उस नाम वाली कहलाती हैं।

विशेषार्थ—गाथा में उदयबंधोत्कृष्टा आदि के लक्षण बतलाये हैं—

जिन कर्मप्रकृतियों का उदय हो अथवा न हो, लेकिन बंध द्वारा अथवा अन्य प्रकृतियों के दलिकों के संक्रम द्वारा उत्कृष्ट स्थिति की सत्ता होती है, वे प्रकृतियां इस प्रकार से अपने-अपने अनुरूप संज्ञा वाली समझ लेना चाहिये।

जिन कर्मप्रकृतियों का विपाकोदय हो तब मूलकर्म की जितनी उत्कृष्ट स्थिति है, उतनी स्थिति उन प्रकृतियों की बंध द्वारा बांधी जाये तो उन्हें उदयबंधोत्कृष्टा कहते हैं। बंधोत्कृष्टा अर्थात् मूलकर्म का जितना उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है, उतना स्थितिबंध उन उत्तर प्रकृतियों का हो जिनका कि बंध उस समय हो रहा है तो वे बंधोत्कृष्टा कहलाती हैं और जिन प्रकृतियों का उदय हो तभी उनका उत्कृष्ट स्थितिबंध हो तो वे प्रकृतियां उदयबंधोत्कृष्टा कहलाती हैं, जैसे कि मतिज्ञानावरणकर्म।

जिन प्रकृतियों का उदय न हो, तब उत्कृष्ट स्थितिबंध हो तो वे अनुदयबंधोत्कृष्टा कहलाती हैं, जैसे पांच निद्राएँ।

अपने मूलकर्म का जितना उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है, उतना स्थितिबंध जिन उत्तर कर्मप्रकृतियों का बंध के समय तक तो न होता हो किन्तु स्व-जातीय प्रकृतियों के दलिकों के संक्रम द्वारा होता हो, वे प्रकृतियां संक्रमोत्कृष्टा कहलाती हैं और उसमें भी जिन प्रकृतियों का जब उदय हो तो भी उन प्रकृतियों को अन्य स्वजातीय प्रकृतियों के दलिकों के संक्रम द्वारा उत्कृष्ट स्थितिलाभ होता है, वे उदयसंक्रमोत्कृष्टा कहलाती हैं, जैसे—सातावेदनीय।

उदय न हो तब संक्रम द्वारा उत्कृष्ट स्थिति का लाभ हो वे प्रकृतियां अनुदयसंक्रमोत्कृष्टा कहलाती हैं, जैसे कि देवगतिनामकर्म।

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

इस प्रकार से १ उदयबंधोत्कृष्टा, २ अनुदयबंधोत्कृष्टा, ३ उदय-संक्रमोत्कृष्टा, ४ अनुदयसंक्रमोत्कृष्टा के भेद से प्रकृतियों के चार वर्ग हैं। इन चारों के लक्षण बतलाने के बाद अब अनानुपूर्वी[1] के क्रम से सर्वप्रथम उदयसंक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों को बतलाते हैं।

उदयसंक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियां

मणुगइ सायं सम्मं थिरहासाइछ वेयसुभखगई।
रिसहचउरंसगाईपणुच्च उदसंकमुक्कोसो ॥६३॥

शब्दार्थ—**मणुगइ**—मनुष्यगति, **सायं**—सातावेदनीय, **सम्मं**—सम्यक्त्व-मोहनीय, **थिरहासाइछ**—स्थिरादि और हास्यादि षट्क, **वेय**—तीन वेद, **सुभखगई**—प्रशस्तविहायोगति, **रिसहचउरंसगाई**—वज्रऋषभनाराचसंहननादि, समचतुरस्रसंस्थानादि, **पण**—पांच, **उच्च**—उच्चगोत्र, **उदसंकमुक्कोसो**—उदयसंक्रमोत्कृष्टा।

गाथार्थ—मनुष्यगति, सातावेदनीय, सम्यक्त्वमोहनीय, स्थिरादिषट्क और हास्यादिषट्क, तीन वेद, प्रशस्तविहायोगति, वज्र-

---

१ शास्त्रों में १ पूर्वानुपूर्वी, २ पश्चानुपूर्वी और ३ अनानुपूर्वी, इन तीनों प्रकारों—प्रणालियों से पदार्थों का वर्णन किया गया है। जिस पदार्थ का जिस क्रम से निरूपण किया गया हो, उसी क्रम से एक-एक पदार्थ के स्वरूप को बतलाने को पूर्वानुपूर्वी कहते हैं। जिस पदार्थ का जिस क्रम से निरूपण किया गया हो, उससे उल्टे—विपरीत क्रम से यानी अन्तिम से आदि तक एक एक पदार्थ का स्वरूप बतलाना पश्चानुपूर्वी है और जिन पदार्थों का जिस क्रम से निरूपण किया गया हो, उनका ऊपर बताये गये दोनों क्रमों के बिना इच्छानुरूप क्रम से स्वरूप बतलाने को अनानुपूर्वी कहते हैं।

यहाँ मूल गाथा में बताये गये चारों पदार्थों में से पहले तीसरे का, उसके बाद चौथे, दूसरे और पहले का वर्णन किया गया है। इसीलिए यहाँ अनानुपूर्वी क्रम का संकेत किया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऋषभनाराचादि पांच संहनन, समचतुरस्र आदि पांच संस्थान और उच्चगोत्र, ये उदयसंक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियां हैं।

विशेषार्थ—गाथा में उदयसंक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों के नाम बतलाये हैं—मनुष्यगति, सातावेदनीय, सम्यक्त्वमोहनीय, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय और यशःकीर्तिरूप स्थिरषट्क तथा हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा रूप हास्यषट्क, वेदत्रिक—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद, प्रशस्तविहायोगति, वज्रऋषभनाराचसंहनन, ऋषभनाराचसंहनन, नाराचसंहनन, अर्धनाराचसंहनन और कीलिकासंहनन नामक पांच संहनन, समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमंडल, सादि, वामन और कुब्ज नामक पांच संस्थान और उच्चगोत्र, ये तीस प्रकृतियां उदयसंक्रमोत्कृष्टा हैं। इनको उदयसंक्रमोत्कृष्टा मानने के कारण का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

इन प्रकृतियों का जब उदय होता है, तब इनकी विपक्षभूत सजातीय नरकगति, असातावेदनीय और मिथ्यात्वमोहनीय आदि कर्मप्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति को बांधकर उनकी बंधावलिका बीतने के बाद उदय-प्राप्त हुई उपर्युक्त मनुष्यगति आदि प्रकृतियों का बंध प्रारम्भ करता है। तब उदय-प्राप्त और बांधी जा रही इन मनुष्यगति आदि में नरकगति आदि विपक्षभूत प्रकृतियों के दलिकों को संक्रमित करता है। अर्थात् संक्रम से उत्कृष्ट स्थितिलाभ होता है।

यहाँ मनुष्यगति आदि का बंध हो— ऐसा जो कहा है, उसका कारण यह है कि बंधावलिका पूर्ण न हो तब तक उसमें कोई भी करण लागू नहीं होता, इसलिए बंधावलिका बीतना चाहिए और जिसमें संक्रम होना है, उसका बंध प्रारम्भ हो तभी संक्रम होता है, क्योंकि बध्यमान प्रकृति ही पतद्ग्रह होती है और पतद्ग्रह प्रकृति के बिना कोई भी प्रकृति संक्रमित नहीं हो सकती है। इसीलिए मनुष्यगति आदि का बंध होना चाहिए ऐसा उल्लेख किया है। उदाहरणार्थ—मनुष्यगति का जब उदय हो तब नरकगति की बीस कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का बंध करे और उसकी बंधावलिका बीतने के बाद मनुष्यगति का बंध प्रारम्भ करे तो उसमें उदयावलिका से ऊपर के नरकगति के दलिकों को संक्रमित करे तब मनुष्यगति में उत्कृष्ट स्थिति का लाभ होता है। इसी तरह सातावेदनीय आदि प्रकृतियों के लिए भी समझना चाहिये।

संक्रम द्वारा उत्कृष्ट स्थितिसत्ता होने का कारण यह है कि शुभ प्रकृतियों की बंधमुखेन स्थिति अल्प और अशुभ प्रकृतियों की उत्कृष्ट बंधती है। अतएव अशुभ प्रकृतियों के दलिकों के संक्रम द्वारा ही शुभ प्रकृतियों में उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है, अन्यथा नहीं और मनुष्यगति आदि शुभ प्रकृतियां हैं। जिससे ये मनुष्यगति आदि तीस प्रकृतियां उदयसंक्रमोत्कृष्टा मानी गई हैं।

इस प्रकार से उदयसंक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों को बतलाने के बाद अब अनुदयसंक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियां बतलाते हैं।

अनुदयसंक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियां

मणुयाणुपुव्विमीसग आहारगदेवजुगलविगलाणि।
सुहुमाइतिगं तित्थं अणुदयसंकमणउक्कोसा ॥६४॥

शब्दार्थ—**मणुयाणुपुव्वि**—मनुष्यानुपूर्वी, **मीसग**—मिश्रमोहनीय, **आहारगदेवजुगल**—आहारकद्विक और देवद्विक, **विगलाणि**—विकलत्रिक, **सुहुमाइतिगं**—सूक्ष्मादित्रिक, **तित्थं**—तीर्थंकरनाम, **अणुदयसंकमणउक्कोसा**—अनुदयसंक्रमोत्कृष्टा।

गाथार्थ—मनुष्यानुपूर्वी, मिश्रमोहनीय, आहारकद्विक, देवद्विक, विकलत्रिक, सूक्ष्मादित्रिक और तीर्थंकरनाम ये अनुदयसंक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियां हैं।

विशेषार्थ—गाथा में अनुदयसंक्रमोत्कृष्टा तेरह प्रकृतियों के नाम बतलाये हैं। जो इस प्रकार हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्यानुपूर्वी, मिश्रमोहनीय, आहारकशरीर, आहारक-अंगोपांग, देवगति, देवानुपूर्वी, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण और तीर्थंकरनाम। इनको अनुदयसंक्रमोत्कृष्टा मानने का स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

इन प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति अपने-अपने बंध के द्वारा प्राप्त नहीं होती है। जिसका कारण यह है कि इनकी स्थिति अपने मूलकर्म जितनी बंध के समय बंधती ही नहीं है किन्तु स्वजातीय प्रतिपक्ष प्रकृतियों के संक्रम द्वारा ही उत्कृष्ट स्थिति होती है। वह इस प्रकार समझना चाहिए कि—

जब उक्त प्रकृतियों की प्रतिपक्षी प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध करके उनकी बंधावलिका जिस समय पूर्ण होती है, उसके बाद के समय में उपर्युक्त प्रकृतियों का बंध प्रारम्भ होता है। बंध रही प्रकृतियों में पूर्वबद्ध इनकी प्रतिपक्षी नरकानुपूर्वी आदि के दलिक संक्रमित होते हैं। अर्थात् संक्रम द्वारा इनकी उत्कृष्ट स्थिति होती है, किन्तु वह भी तब, जब इनका उदय न हो। इसका कारण यह है कि जब उपर्युक्त प्रकृतियों का उदय होता है तब इनकी विपक्षी प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति का बंध ही नहीं होता है। यथा—मनुष्यानुपूर्वी का उदय विग्रहगति में होता है, विकलत्रिक और सूक्ष्मादित्रिक का उदय विकलेन्द्रियों और सूक्ष्मादि जीवों में होता है, आहारकशरीर और आहारक-अंगोपांग का उदय आहारकशरीरी के होता है, मिश्रमोहनीय का उदय तीसरे मिश्रगुणस्थान में और तीर्थंकरनाम का उदय तेरहवें सयोगिकेवलीगुणस्थान में होता है, किन्तु वहाँ उन-उनकी विपक्षी प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबंध के योग्य अध्यवसाय ही नहीं होते हैं और देवद्विक—देवगति, देवानुपूर्वी का उदय देवगति में होता है, परन्तु वहाँ इन दोनों प्रकृतियों का बंध नहीं होता है। इन्हीं कारणों से मनुष्यानुपूर्वी आदि प्रकृतियां अनुदयबंधोत्कृष्टा कहलाती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार से उदय और अनुदय संक्रमोत्कृष्टा प्रकृतियों को बतलाने के पश्चात अब शेष रही अनुदयबंधोत्कृष्टा और उदयबंधोत्कृष्टा प्रकृतियों का निर्देश करते हैं।

अनुदय और उदय बंधोत्कृष्टा प्रकृतियां

नारयतिरिउरलदुगं छेवट्ठेगिंदिथावरायावं।
निद्दा अणुदयजेट्ठा उदउक्कोसा पराणाऊ ॥६५॥

शब्दार्थ—**नारयतिरिउरलदुगं**—नरकद्विक, तिर्यंचद्विक, औदारिकद्विक, **छेवट्ठेगिंदि**—सेवार्तसंहनन, एकेन्द्रिय, **थावरायावं**—स्थावर और आतप, **निद्दा**—निद्रापंचक, **अणुदयजेट्ठा**—अनुदयबंधोत्कृष्टा, **उदउक्कोसा**—उदयबंधोत्कृष्टा, **पराणाऊ**—आयुकर्म को छोड़कर शेष सब।

गाथार्थ—नरकद्विक, तिर्यंचद्विक, औदारिकद्विक, सेवार्तसंहनन, एकेन्द्रिय, स्थावर, आतप और निद्रापंचक ये सभी अनुदयबंधोत्कृष्टा प्रकृतियां हैं और आयुकर्म को छोड़कर शेष सब प्रकृतियां उदयबंधोत्कृष्टा हैं।

विशेषार्थ—गाथा में अनुदयबंधोत्कृष्टा प्रकृतियों का नामोल्लेख करके आयुकर्म की प्रकृतियों के सिवाय शेष प्रकृतियों को उदयबंधोत्कृष्टा समझने का संकेत किया है। कारण सहित स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

नरकद्विक, तिर्यंचद्विक, औदारिकद्विक, सेवार्तसंहनन, एकेन्द्रियजाति, स्थावरनाम, आतपनाम और पांच निद्रायें कुल मिलाकर ये पन्द्रह प्रकृतियां अनुदयबंधोत्कृष्टा हैं। इनको अनुदयबंधोत्कृष्टा मानने का कारण यह है कि इन सभी प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध अपने मूलकर्म के उत्कृष्ट स्थितिबंध जितना ही होता है, लेकिन यह उत्कृष्ट स्थितिबंध तब होता है जब इनका उदय न हो।

नरकद्विक आदि उपर्युक्त प्रकृतियों के उत्कृष्ट स्थितिबंध के अधिकारी का विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इन प्रकृतियों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का जहाँ उदय है, वहाँ उनका उत्कृष्ट स्थितिबंध हो ही नहीं सकता है तथा निद्राओं का जब उदय होता है तब उनके उत्कृष्ट स्थितिबंध के योग्य क्लिष्ट परिणाम ही नहीं होते हैं और जब उस प्रकार के क्लिष्ट परिणाम होते हैं तब निद्रा का उदय होता नहीं है। क्योंकि निद्रा में कषायादि वृत्तियां तीव्र होने के बजाय शांत होती हैं। इसलिये जब उनका उदय हो तब उनका उत्कृष्ट स्थितिबंध नहीं होता है।

इसी कारण नरकद्विक आदि पांच निद्राओं पर्यंत प्रकृतियां अनुदय-बंधोत्कृष्टा बताई हैं।

'उदउक्कोसा पराणाऊ' अर्थात चार आयु और पूर्व में बताई गई प्रकृतियों के सिवाय शेष रही साठ प्रकृतियां उदयबंधोत्कृष्टा हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं—

पंचेन्द्रियजाति, वैक्रियद्विक,[1] हुंडसंस्थान, पराघात, उच्छ्वास, उद्योत, अशुभविहायोगति, अगुरुलघु, तैजस, कार्मण, निर्माण, उपघात, वर्णादि-चतुष्क, स्थिरादिषट्क, त्रसादिचतुष्क, असातावेदनीय, नीचगोत्र, सोलह कषाय, मिथ्यात्वमोहनीय, ज्ञानावरणपंचक, अन्तरायपंचक और दर्शनावरणचतुष्क।

इन साठ प्रकृतियों को उदयबंधोत्कृष्टा मानने का कारण यह है कि इन प्रकृतियों का जब उदय हो तभी उनका अपने मूलकर्म जितना उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है। इसीलिये ये प्रकृतियां उदयबंधोत्कृष्टा कहलाती हैं।

---

१ वैक्रियद्विक का उदय देव और नारकों के भवप्रत्ययिक है, वहाँ तो उनका बंध नहीं होता है, परन्तु उत्तरवैक्रियशरीरधारी मनुष्य तिर्यंच क्लिष्ट परिणामों के योग से इन दोनों प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबंध करते हैं, जिससे इन दोनों प्रकृतियों को उदयबंधोत्कृष्टा वर्ग में ग्रहण किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आयुकर्म में परस्पर संक्रम नहीं होता है तथा बद्धमान आयुकर्म के दलिक पूर्वबद्ध आयु के उपचय (वृद्धि) के लिए सहायक, निमित्त नहीं होते हैं। पूर्वबद्ध आयु स्वतन्त्र है और वर्तमान में बंध रही आयु भी स्वतन्त्र रहती है। जिससे चारों प्रकारों में से एक भी प्रकार के द्वारा तिर्यंचायु और मनुष्यायु की उत्कृष्ट स्थिति का लाभ नहीं होता है। जिससे अनुदयबंधोत्कृष्टादि चारों संज्ञाओं से रहित है। यद्यपि देवायु और नरकायु[1] परमार्थतः अनुदयबंधोत्कृष्टा हैं। क्योंकि इनका उदय न हो तब उत्कृष्ट स्थितिबंध होता है। लेकिन प्रयोजन के अभाव में पूर्वाचार्यों ने आयुचतुष्क के लिये चारों में से एक भी संज्ञा नहीं दी है। इसीलिये यहाँ भी चारों संज्ञाओं में से किसी भी एक संज्ञा में उनका ग्रहण नहीं किया है।

इस प्रकार से उदयसंक्रमोत्कृष्टा आदि चारों प्रकारों में संकलित प्रकृतियों को जानना चाहिये। अब उदयवतित्व और अनुदयवतित्व की अपेक्षा प्रकृतियों के वर्गीकरण का विचार करते हैं।

उदयवती अनुदयवती प्रकृतियां

चरिमसमयंमि दलियं जासिं अन्नत्थसंकमे ताओ।
अणुदयवइ इयरीओ उदयवई होंति पगईओ ॥६६॥
नाणंतरायआउगदंसणचउ वेयणीयमपुमित्थी।
चरिमुदय उच्चवेयग उदयवई चरिमलोभो य ॥६७॥

१ देवायु और नरकायु को एक भी संज्ञा में ग्रहण नहीं करने का कारण यह हो सकता है जब उदयबंधोत्कृष्टादि प्रकृतियों की उत्कृष्ट सत्ता का विचार करते हैं तब उदयबंधोत्कृष्टा प्रकृतियों की पूर्ण सत्ता होती है और अनुदयबंधोत्कृष्टा की एक समय न्यून होती है। अब यदि उक्त दोनों आयु को अनुदयबंधोत्कृष्टा में गिनें तो उनकी उत्कृष्ट स्थिति की सत्ता भी एक समय न्यून क्यों न मानी जाए? यह शंका होती है। किन्तु यह शंका ही उपस्थित न हो इसीलिये उनको किसी भी संज्ञा में नहीं गिना गया हो। क्योंकि आयु की पूर्ण सत्ता ही होती है, न्यून नहीं होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दार्थ—**चरिमसमयंमि**—अन्त समय में, **दलियं**—दलिक, **जासि**—जिनके, **अन्नत्थ**—अन्यत्र, **संकमे**—**संक्रमित** होते हैं, **ताओ**—वे, **अणुदयवइ**—अनुदयवती, **इयरीओ**—इतर, **उदयवई**—उदयवती, **होंति**—होती हैं, **पगईओ**—प्रकृतियां।

नाणंतराय—ज्ञानावरण, अन्तराय, **आउग**—आयु, **दसणचउ**—दर्शनचतुष्क, **वेयणीयं**—वेदनीय, **अपुमित्थी**—नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, **चरिमुदय**—चरम समय तक उदय रहने वाली (नामकर्म की नौ प्रकृतियां), **उच्च**—उच्चगोत्र, **वेयग**—वेदकसम्यक्त्व, **उदयवई**—उदयवती, **चरिमलोभो**—अंतिम लोभ (संज्वलन लोभ), **य**—और।

गाथार्थ—जिन कर्मप्रकृतियों के दलिक अन्त समय में अन्यत्र संक्रमित होते हैं, वे प्रकृतियां अनुदयवती और इतर उदयवती हैं।

ज्ञानावरण, अन्तराय, आयु, दर्शनचतुष्क, वेदनीय, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, अयोगिकेवली के चरम समय तक उदय में रहने वाली नामकर्म की नौ प्रकृतियां, उच्चगोत्र, वेदकसम्यक्त्व और संज्वलन लोभ, ये उदयवती प्रकृतियां हैं।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में से पहली में अनुदयवतित्व उदयवतित्व के लक्षण और दूसरी में उदयवती प्रकृतियों के नाम बतलाये हैं।

अनुदयवतित्व और उदयवतित्व का लक्षण इस प्रकार है—

जिन प्रकृतियों के दलिक अन्त समय में यानी उन-उन प्रकृतियों की स्वरूपसत्ता का जिस समय नाश होता है, उस समय अन्य प्रकृतियों में स्तिबुकसंक्रम द्वारा संक्रमित हों और संक्रमित होकर अन्य प्रकृतिरूप से अनुभव किये जायें वे प्रकृतियां अनुदयवती कहलाती हैं और जिन प्रकृतियों के दलिक अपनी सत्ता का जिस समय नाश

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है, उस समय अपने रूप में अनुभव किये जायें वे प्रकृतियां उदयवती हैं।

उक्त लक्षणों के अनुसार अब पहले उदयवती प्रकृतियों के नाम बतलाते हैं—

ज्ञानावरणपंचक, अन्तरायपंचक, आयुचतुष्क, दर्शनावरणचतुष्क, साता-असाता वेदनीय, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद तथा मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति और तीर्थंकरनाम रूप अयोगिकेवलीगुणस्थान के चरम समय तक उदय रहने वाली नामनवक प्रकृतियां, उच्चगोत्र, वेदकसम्यक्त्व और संज्वलन लोभ, कुल मिलाकर ये चौंतीस प्रकृतियां उदयवती हैं।

इनको उदयवती मानने का कारण यह है कि इनके उदय और सत्ता का एक समय में ही क्षय होता है। जो इस प्रकार समझना चाहिये—

मतिज्ञानावरण आदि ज्ञानावरणपंचक, दानान्तराय आदि अन्तरायपंचक और चक्षुदर्शनावरण आदि दर्शनावरणचतुष्क इन चौदह प्रकृतियों का बारहवें क्षीणकषायगुणस्थान के चरम समय में जब उनकी सत्ता का नाश होता है उस समय अपने रूप में अनुभव किये जाने से उदयवती हैं।

इसी प्रकार चरमोदयवती नामकर्म की मनुष्यगति आदि नौ प्रकृतियां, साता-असातावेदनीय और उच्चगोत्र कुल मिलाकर बारह प्रकृतियों का अयोगिकेवलीगुणस्थान के अन्तसमय में, संज्वलन लोभ का क्षपकश्रेणि में सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के अन्तसमय में, वेदकसम्यक्त्व (सम्यक्त्वमोहनीय) का क्षायिकसम्यक्त्व का उपार्जन करते समय अपने क्षय के चरम समय में, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद का उस-उस वेद के उदय से श्रेणि आरम्भ करने वाले को नौवें अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थान के संख्यात भाग बीतने के बाद उस-उस वेद के उदय के अन्तसमय में, चारों आयुओं का अपने-अपने भव के चरम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समय में अपने-अपने रूप में अनुभव होता है। इसीलिये ये सभी प्रकृतियां उदयवती कहलाती हैं।

यद्यपि साता-असातावेदनीय और स्त्रीवेद, नपुंसकवेद में अनुदयवतित्व भी सम्भव है। क्योंकि चौदहवें गुणस्थान के अन्त समय में एक जीव के साता-असाता में एक का ही उदय होता है। इस कारण जिसका उदय हो वह उदयवती और जिसका उदय न हो वह अनुदयवती है। इसी तरह जिस वेद के उदय से श्रेणि आरम्भ की हो, वह वेदप्रकृति उदयवती और शेष अनुदयवती संज्ञक कहलाती है। इस प्रकार इन प्रकृतियों में अनुदयवतित्व भी सम्भव है। परन्तु मुख्य गुण के आश्रय से उस प्रकृति का नामकरण होता है। एक जीव की अपेक्षा एक प्रकृति उदयवती और दूसरी अनुदयवती संज्ञक हो सकती है, परन्तु भिन्न-भिन्न जीवों की अपेक्षा ये चारों प्रकृतियां उदयवती हैं। इस दृष्टि से पूर्व पुरुषों ने साता-असातावेदनीय और नपुंसकवेद, स्त्रीवेद को उदयवती प्रकृति माना है।

इस प्रकार से ये चौंतीस प्रकृतियां उदयवती जानना चाहिये।

इन उदयवती प्रकृतियों से शेष रही एक सौ चौदह प्रकृतियां अनुदयवती हैं। अनुदयवती मानने के कारण सहित उनके नाम इस प्रकार हैं—

चरमोदय संज्ञा वाली मनुष्यगति आदि नामकर्म की नौ तथा नरकद्विक, तिर्यंचद्विक, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय रूप जातिचतुष्क, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, आतप और उद्योत कुल मिलाकर इन बाईस प्रकृतियों के सिवाय शेष रही नामकर्म की इकहत्तर और नीचगोत्र कुल मिलाकर बहत्तर प्रकृतियों के दलिकों को उदय-प्राप्त स्वजातीय अन्य प्रकृतियों में स्तिबुकसंक्रम द्वारा संक्रमित करके अयोगिकेवली चरम समय में पर-प्रकृति के व्यपदेश से अनुभव करते हैं। इसी तरह निद्रा और प्रचला को क्षीणकषायगुणस्थानवर्ती जीव अनुभव करता है तथा मिथ्यात्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सप्तक के क्षयकाल में सम्यक्त्व में स्तिबुकसंक्रम द्वारा संक्रमित करके परव्यपदेश से अनुभव करता है, अनन्तानुबंधिकषाय के क्षयकाल में उनके दलिकों को बध्यमान चारित्रमोहनीय में गुणसंक्रम द्वारा संक्रमित करके और उदयावलिकागत दलिकों को स्तिबुकसंक्रम द्वारा उदयवती प्रकृतियों में संक्रमित करके परव्यपदेश से अनुभव करता है तथा स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, आतप, उद्योत, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, नरकद्विक और तिर्यंचद्विक नामकर्म की इन तेरह प्रकृतियों को बध्यमान यशःकीर्तिनाम में गुणसंक्रम द्वारा संक्रमित करके और उदयावलिका के दलिकों को उदयप्राप्त नामकर्म की प्रकृतियों में स्तिबुकसंक्रम द्वारा संक्रमित करके पररूप से अनुभव करता है तथा स्त्यानर्द्धित्रिक को भी पहले तो बध्यमान दर्शनावरण-चतुष्क में गुणसंक्रम द्वारा संक्रमित करता है और उसके बाद उदयावलिका के दलिकों को स्तिबुकसंक्रम द्वारा संक्रमित करके अन्य व्यपदेश से अनुभव करता है।

इसी प्रकार मध्यम अष्टकषाय, हास्यषट्क, पुरुषवेद और संज्वलन क्रोध, मान, माया इन प्रकृतियों को यथायोग्य रीति से पुरुषवेदादि उत्तरोत्तर प्रकृतियों में प्रक्षेप करके पररूप से अनुभव करता है। इसीलिये ये एक सौ चौदह प्रकृतियां अनुदयवती संज्ञा वाली हैं। क्योंकि इन प्रकृतियों के दलिक चरम समय में अन्यत्र संक्रमित किये जाने से इनके रसोदय का अभाव है।

इस प्रकार से इकतीस वर्गों में बंधव्य प्रकृतियों के वर्गीकरण को जानना चाहिये। किस वर्ग में कौन-कौन-सी प्रकृति का समावेश है, सुगमता से जानने के लिए प्रारूप परिशिष्ट में देखिये।

इस तरह से बंधव्य-प्ररूपणा अधिकार में बंधव्य प्रकृतियों का सामान्य और विशेष की अपेक्षा समग्र कथन है। बिना हेतु—निमित्त के बंधव्य का बंध नहीं होता है। अतः बंध के हेतुओं को जानना आवश्यक होने से अब क्रमप्राप्त बंधहेतु नामक अर्थाधिकार का विस्तार से व्याख्यान प्रारम्भ करते हैं। ☐

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट : १

बंधव्य-प्ररूपणा अधिकार की मूल गाथाएँ

नाणस्स दंसणस्स य आवरण वेयणीय मोहणीयं ।
आउ य नामं गोयं तहंतराय च पयडीओ ॥१॥

पच नव दोन्नि अट्ठावीसा चउरो तहेव बायाला ।
दोन्नि य पंच य भणिया पयडीओ उत्तरा चेव ॥२॥

मईसुयओहीमणकेवलाण आवरणं भवे पढमं ।
तह दाण लाभ भोगोवभोगविरियंतराययं चरिमं ॥३॥

नयणेयरोहिकेवल दंसण आवरणयं भवे चउहा ।
निद्दापयलाहिं छहा निद्दाइदुरुत्त थीणद्धी ॥४॥

सोलस कसाय नव नोकसाय दंसणतिगं च मोहणीयं ।
सुरनरतिरिनिरयाऊ सायासायं च नीउच्चं ॥५॥

गइजाइसरीरंगं बंधण संघायणं च संघयणं ।
संठाण वन्नगंधरसफास अणुपुव्वि विहगगई ॥६॥

अगुरुलहु उवघायं परघाउस्सास आयवुज्जोयं ।
निम्माण तित्थनामं चोद्दस अड पिंडपत्तेया ॥७॥

तसबायरपज्जत्तं पत्तेय थिरं सुभं च नायव्वं ।
सुस्सरसुभगाइज्जं जसकित्ती सेयरा वीसं ॥८॥

गईयाईयाण भेया चउ पण पण ति पण पंच छ छक्कं ।
पण दुग पणट्ठ चउ दुग पिंडुत्तरभेय पणसट्ठी ॥९॥

ससरीरंतरभूया बंधनसंघायणा उ बंधुदए ।
वण्णाइविगप्पावि हु बंधे नो सम्ममीसाइं ॥१०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वेउव्वाहारोरालियाण सग तेयकम्मजुत्ताणं ।
नव बंधणाणि इयरदुजुत्ताणं तिण्णि तेसिं च ॥११॥

ओरालियाइयाणं संघाया बंधणाणि य सजोगे ।
बंधसुभसंतउदया आसज्ज अणेगहा नामं ॥१२॥

नील कसीणं दुगंध तित्तं कडुयं गुरुं खरं रुक्खं ।
सीयं च असुभनवगं एगारसगं सुभं सेसं ॥१३॥

धुवबंधिधुवोदय सव्वघाइ परियत्तमाण असुभओ ।
पंच य सपडिवक्खा पगई य विवागओ चउहा ॥१४॥

नाणंतरायदंसण धुवबंधि कसायमिच्छभयकुच्छा ।
अगुरुलघु निमिण तेयं उवघायं वण्णचउकम्मं ॥१५॥

निम्माणथिराथिरतेयकम्मवण्णाइ अगुरुसुहमसुहं ।
नाणंतरायदसगं दंसणचउ मिच्छ निच्चुदया ॥१६॥

केवलियनाणदंसण आवरणं बारसाइमकसाया ।
मिच्छत्तं निद्दाओ इय वीसं सव्वघाईओ ॥१७॥

सम्मत्तनाणदंसणचरित्तघाइत्तणा उ घाईओ ।
तस्सेस देसघाइत्तणा उ पुण देसघाईओ ॥१८॥

नाणावरणचउक्कं दंसणतिग नोकसाय विग्घपणं ।
संजलण देसघाई तइय विगप्पो इमो अन्नो ॥१९॥

नाणंतरायदंसणचउक्कं परघायतित्थउस्सासं ।
मिच्छभयकुच्छधुवबंधिणी उ नामस्स अपरियत्ता ॥२०॥

मणुयतिगं देवतिगं तिरियाऊसास अट्ठतणुयंगं ।
विहगइवण्णाइसुभं तसाइदसतित्थनिम्माणं ॥२१॥

चउरंसउसभआयवपराघायपणिंदि अगुरुसाउच्चं ।
उज्जोयं च पसत्था सेसा बासीइ अपसत्था ॥२२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आयावं संठाणं संघयणसरीरअंग उज्जोयं ।
नामधुवोदयउवपरघायं पत्तेय साहारं ॥२३॥

उदइयभावा पोग्गलविवागिणो आउ भवविवागीणि ।
खेत्तविवागणुपुव्वी जीवविवागा उ सेसाओ ॥२४॥

मोहस्सेव उवसमो खाओवसमो चउण्ह घाईणं ।
खयपरिणामियउदया अट्ठण्ह वि होंति कम्माणं ॥२५॥

सम्मत्ताइ उवसमे खाओवसमे गुणा चरित्ताई ।
खइए केवलमाइ तव्ववएओ उ उदईए ॥२६॥

नाणंतरायदंसण वेयणियाणं तु भंगया दोन्नि ।
साइसपज्जवसाणोवि होइ सेसाण परिणामो ॥२७॥

उदये च्चिय अविरुद्धो खाओवसमो अणेगभेओ त्ति ।
जइ भवति तिण्ह एसो पएसउदयंमि मोहस्स ॥२८॥

चउतिट्ठाणरसाइं सव्वघाईणि होंति फड्डाइं ।
दुट्ठाणियाणि मीसाणि देसघाईणि सेसाणि ॥२९॥

निहएसु सव्वघाईरसेसु फड्डेसु देसघाईणं ।
जीवस्स गुणा जायंति ओहीमणचक्खुमाईया ॥३०॥

आवरणमसव्वग्घं पुंसंजलणंतरायपयडीओ ।
चउट्ठाणपरिणयाओ दुतिचउठाणाउ सेसाओ ॥३१॥

उप्पल - भूमी - बालुय - जलरेहासरिस संपराएसु ।
चउठाणाइ असुभाणं सेसयाणं तु वच्चासा ॥३२॥

घोसाडइनिंबुवमो असुभाण सुभाण खीर खंडुवमो ।
एगट्ठाणो उ रसो अंणतगुणिया कमेणियरा ॥३३॥

उच्चं तित्थं सम्मं मीसं वेउव्विवछक्कमाऊणि ।
मणुदुग आहारदुगं अट्ठारस अधुवसंताओ ॥३४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पढमकसायसमेया एयाओ आउतित्थवज्जाओ।
सत्तरसुव्वलणाओ तिगेसु गतिआणुपुव्वाऊ ॥३५॥

नियहेउसंभवेवि हु भयणिज्जो होइ जाण पयडीणं।
बंधो ता अधुवाओ धुवा अभयणीयबंधाओ ॥३६॥

दव्वं खेत्तं कालो भवो य भावो य हेयवो पंच।
हेउसमासेणुदओ जायइ सव्वाण पगईणं ॥३७॥

अव्वोच्छिन्नो उदओ जाणं पगईण ता धुवोदइया।
वोच्छिन्नो वि हु संभवइ जाण अधुवोदया ताओ ॥३८॥

असुभसुभत्तणघाइत्तणाइं रसभेयओ मुणिज्जाहि।
सविसयघायभेएण वावि घाइत्तणं नेयं ॥३९॥

जो घाएइ सविसयं सयलं सो होइ सव्वघाइरसो।
सो निच्छिद्दो निद्धो तणुओ फलिहब्भहरविमलो ॥४०॥

देसविघाइत्तणओ इयरो कडकंबलंसुसंकासो।
विविहबहुछिद्दभरिओ अप्पसिणेहो अविमलो य ॥४१॥

जाण न विसओ घाइत्तणंमि ताणंपि सव्वघाइरसो।
जायइ घाइसगासेण चोरया वेह चोराणं ॥४२॥

घाइखओवसमेणं सम्मचरित्ताइं जाइं जीवस्स।
ताणं हणंति देसं संजलणा नोकसाया य ॥४३॥

विणिवारिय जा गच्छइ बंधं उदयं च अन्नपगईए।
सा हु परियत्तमाणी अणिवारेंति अपरियत्ता ॥४४॥

दुविहा विवागओ पुण हेउविवागाउ रसविवागाउ।
एक्केक्का वि य चउहा जओ च सद्दो विगप्पेणं ॥४५॥

जा जं समेच्च हेउं विवागउदयं उवेंति पगईओ।
ता तव्विवागसन्ना सेसभिहाणाइं सुगमाइं ॥४६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अरइरईणं उदओ किन्न भवे पोग्गलाणि संपप्प ।
अप्पुट्ठेहि वि किन्नो एवं कोहाइयाणंपि ॥४७॥

आउव्व भवविवागा गई न आउस्स परभवे जम्हा ।
नो सव्वहा वि उदओ गईण पुण संकमेणत्थि ॥४८॥

अणुपुव्वीणं उदओ किं संकमणेण नत्थि संतेवि ।
जह खेत्तहेउणो ताण न तह अन्नाण सविवागो ॥४९॥

संपप्प जीवकाला काओ उदयं न जंति पगईओ ।
एवमिणमोहहेउं आसज्ज विसेसयं नत्थि ॥५०॥

केवलदुगस्स सुहुमो हासाइसु कह न कुणइ अपुव्वो ।
सुभगाईणं मिच्छो किलिट्ठओ एगठाणिरसं ॥५१॥

जलरेहसमकसाए वि एगठाणी न केवलदुगस्स ।
जं तणुयंपि हु भणियं आवरणं सव्वघाई से ॥५२॥

सेसासुभाण वि न जं खवगियराणं न तारिसा सुद्धी ।
न सुभाणंपि हु जम्हा ताणं बंधो विसुज्झंति ॥५३॥

उक्कोसठिईअज्झवसाणेहिं एगठाणिओ होही ।
सुभियाण तन्न जं ठिइ असंखगुणिया उ अणुभागा ॥५४॥

दुविहमिह सन्तकम्मं धुवाधुवं सूइयं च सद्देण ।
धुवसंतं चिय पढमा जओ न नियमा विसंजोगो ॥५५॥

अणुदयउदयोभयबंधणी उ उभबंधउदयवोच्छेया ।
सन्तरउभयनिरन्तरबंधा उदसंकमुक्कोसा ॥क॥

अणुदयसंकमजेट्ठा उदएणुदए य बंधउक्कोसा ।
उदयाणुदयवईओ तितितिचउदुहा उ सव्वाओ ॥ख॥

देवनिरियाउवेउव्विछक्क आहारजुयलतित्थाणं ।
बंधो अणुदयकाले धुवोदयाणं तु उदयम्मि ॥५६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गयचरमलोभ धुवबंधि मोहहासरइ मणुयपुव्वीणं ।
सुहमतिगआयवाणं सपुरिसवेयाण बधुदया ॥५७॥
वोच्छिज्जंति समंचिय कमसो सेसाण उक्कमेणं तु ।
अट्ठण्हमजससुरतिग वेउव्वाहारजुयलाणं ॥५८॥
धुवबंधिणी उ तित्थगरनाम आउयचउक्क बावन्ना ।
एया निरन्तराओ सगवीसुभसन्तरा सेसा ॥५९॥
चउरंसउसभ परघाउसासपुंसगलसायसुभखगई ।
वेउव्विउरलसुरनरतिरिगोयदु सुसरतसतिचऊ ॥६०॥
समयाओ अन्तमुहू उक्कोसा जाण सन्तरा ताओ ।
बंधेहियंमि उभया निरन्तरा तम्मि उ जहन्ने ॥६१॥
उदए व अणुदए वा बंधाओ अन्नसंकमाओ वा ।
ठिइसंतं जाण भवे उक्कोसं ता तयक्खाओ ॥६२॥
मणुगंइ सायं सम्मं थिरहासाइछ वेयसुभखगई ।
रिसहचउरंसगाईपणुच्च उदसंकमुक्कोसो ॥६३॥
मणुयाणुपुव्विमीसग आहारगदेवजुगलविगलाणि ।
सुहुमाइतिगं तित्थं अणुदयसंकमण उक्कोसा ॥६४॥
नारयतिरिउरलदुगं छेवट्ठेगिंदिथावरायावं ।
निद्दा अणुदयजेट्ठा उदउक्कोसा पराणाउ ॥६५॥
चरिमसमयंमि दलियं जासिं अन्नत्थसंकमे ताओ ।
अणुदयवइ इयरीओ उदयवई होंति पगईओ ॥६६॥
नाणंतरायआउगदंसणचउ वेयणीयमपुमित्थी ॥
चरिमुदय उच्चवेयग उदयवई चरिम लोभो य ॥६७॥

□□

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बंधव्य-प्ररूपणा अधिकार का गाथा-अकाराद्यनुक्रम

गाथांश	गा. सं. पृ.
अगुरुलघु उवघायं	७।४०
अणुदयउदओभयबंधिनी	क।१५४
अणुदयसंकमजेट्ठा	ख।१५४
अणुपुव्वीणं उदओ	४६।१४३
अरइरईणं उदओ	४७।१३६
अव्वोच्छिन्नो उदओ	३८।१२६
असुभसुभत्तणघाइ	३६।१२७
आउव्व भवविवागा	४८।१४१
आयावं संठाणं	२३।८५
आवरणमसव्वघं	३१।११०
उक्कोसठिई अज्जवसाणेहिं	५४।१५०
उच्चं तित्थं सम्मं	३४।११६
उदइयभावापोग्गलविवागिणो	२४।८५
उदए व अणुदए व	६२।१६६
उदये च्चिय अविरुद्धो	२८।१०१
उप्पल-भूमि-बालुय	३२।११३
ओरालियाइयाणं	१२।६१
केवलदुगस्स सुहुमो	५१।१४५
केवलियनाणदंसण	१७।७६
गइजाइसरीरंगं	६।२८
गईयाईयाणभेया	६।५४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथांश	गा. सं. पृ.
गयचरमलोभ धुवबंधि	५७।१५६
घाइखओवसमेणं	४३।१३३
घोसाडइनिंबुवमो	३३।११५
चउतिट्ठाणरसाइं	२६।१०६
चउरंसउसभआयव	२२।८३
चउरंसउसभपरघा	६०।१६५
चरिमसमयंमि दलियं	६६।१७७
जलरेहसम कसाए	५२।१४७
जाण न विसओ घाइ	४२।१३२
जो घाएइ सविसयं	४०।१२६
जा जं समेच्चहेउं	४६।१३८
तसबायर पज्जत्तं	८।४३
दव्वं खेत्तं कालो	३७।१२५
दुविहमिय संतकम्मं	५५।१५२
दुविहाविवागओ पुण	४५।१३७
देवनिरयाउवेउव्विछक्क	५६।१५६
देसविघाइत्तणओ	४१।१२६
धुवबंधिणी उ तित्थगरनाम	५६।१६५
धुवबंधि धुवोदय	१४।६७
नयणेयरोहि केवल	४।१४
नाणस्स दंसणस्स य	१।३
नाणावरण चउक्कं	१६।८१
नाणंतराय आउग	६७।१७७
नाणंतरायदंसण	१५।७०
नाणंतरायदंसण	२७।६८
नाणंतरायदंसणचउक्क	२०।८२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गाथांश	गा. सं पृ.
नारयतिरिउरलदुगं	६५।१७५
निम्माणथिराथिरतेय	१६।७४
निहएसु सव्वघाईरसेसु	३०।१०८
नील कसीणं दुगधं	१३।६५
नियहेउसंभवेवि हु	३६।१२३
पढमकसायसमेया	३५।१२१
पंचनवदोन्नि अट्ठावीसा	२।१०
मइसुयओहीमणकेवलाण	३।११
मणुगइ सायं सम्मं	६३।१७१
मणुयतिगं देवतिगं	२१।८३
मणुयाणु पुव्विमीसग	६४।१७३
मोहस्सेव उवसमो	२५।९१
विणिवारिय जा गच्छइ	४४।१३४
वेउव्वाहारोरालियाण	११।५८
वोच्छिज्जंति समंचिय	५८।१५९
समयाओ अंतमुहू	६१।१६६
सम्मत्तनाणदंसण	१८।७७
सम्मत्ताइ उवसमे	२६।९५
ससरीरन्तरभूया	१०।५५
सेसा सुभाणवि न	५३।१४७
सोलस कसाय नवनोकसाय	५।१९
संपप्प जीव काला	५०।१४४

□ □

परिशिष्ट : २

गति और जाति नाम को पृथक्-पृथक् मानने में हेतु

गति और जाति नामकर्म दोनों जीव की अवस्थाविशेष के बोधक हैं। इन दोनों को पृथक्-पृथक् मानने का कारण इस प्रकार है—

उपाध्याय श्री यशोविजय जी ने कर्मप्रकृति के विवेचन में जातिनामकर्म के सम्बन्ध में इस प्रकार संकेत किया है—

एकेन्द्रियादि जीवों में एकेन्द्रियादि शब्दव्यवहार के कारण तथाप्रकार के समान परिणामरूप सामान्य को जाति कहते हैं और उसका कारणभूत जो कर्म वह जातिनामकर्म है।

इस विषय में पूर्वाचार्यों का अभिप्राय इस प्रकार है—

द्रव्यरूप इन्द्रियां अंगोपांगनामकर्म और इन्द्रियपर्याप्ति नामकर्म के द्वारा बनती हैं और भावरूप इन्द्रियां स्पर्शनादि इन्द्रियावरण (मतिज्ञानावरण) कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होती हैं। क्योंकि 'इन्द्रियां क्षयोपशमजन्य हैं' ऐसा आगमिक कथन है। परन्तु यह एकेन्द्रिय है, यह द्वीन्द्रिय है इत्यादि शब्द-व्यवहार में निमित्त जो सामान्य है वह अन्य किसी के द्वारा असाध्य होने से जातिनामकर्मजन्य है।

प्रश्न—शब्दव्यवहार के कारणमात्र से जाति की सिद्धि नहीं हो सकती है। यदि ऐसा माना जाये तो हरि, सिंह आदि शब्दव्यवहार में कारण रूप हरित्व आदि जाति की भी सिद्धि होगी और यदि ऐसा माना जाये तो जाति संख्या की कोई सीमा ही नहीं रहेगी। इसलिए एकेन्द्रिय आदि पद का व्यवहार औपाधिक है, जातिनामकर्म मानने का कोई कारण नहीं है तथा यदि एकेन्द्रियत्वादि जाति को स्वीकार करें तो नारकत्वादि को भी नारक आदि व्यवहार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का कारण होने से पंचेन्द्रिय की अवान्तर जाति के रूप में मानना पड़ेगा और फिर गतिनामकर्म मानने की आवश्यकता नहीं रहेगी।

उत्तर—अपकृष्ट चैतन्य आदि के नियामक रूप में एकेन्द्रियत्वादि जाति की सिद्धि होती है। यानि पंचेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय का चैतन्य अल्प (अल्प क्षयोपशम रूप), चतुरिन्द्रिय से त्रीन्द्रिय का अल्प, इस प्रकार से चैतन्य की व्यवस्था में एकेन्द्रियत्वादि जाति हेतु है एवं इसी प्रकार के शब्दव्यवहार का कारण भी जाति ही है, जिससे उसके कारण रूप में जातिनामकर्म सिद्ध है। नारकत्व आदि जाति नहीं है, क्योंकि तिर्यंचत्व का पंचेन्द्रियत्व के साथ सांकर्य[1] बाधक है, नारकत्व आदि जो गति है, वह अमुक प्रकार के सुख-दुःख के उपभोग में नियामक है और उसके कारण रूप में गतिनामकर्म भी सिद्ध है।

तात्पर्य यह कि गतिनामकर्म सुख-दुःख के उपभोग का नियामक है और जातिनामकर्म न तो द्रव्येन्द्रिय का और न भावेन्द्रिय का कारण है। क्योंकि द्रव्येन्द्रियां अंगोपांगनामकर्म एवं इन्द्रियपर्याप्तिजन्य हैं और भावेन्द्रियों का हेतु मतिज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम है। परन्तु एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि जीवों के उत्तरोत्तर चैतन्य-विकास का नियामक है कि एकेन्द्रिय से द्वीन्द्रिय में चैतन्य का विकास अधिक होता है, द्वीन्द्रिय से त्रीन्द्रिय में अधिक आदि, ऐसी व्यवस्था होना जातिनामकर्म का कार्य है।

□□

१ भिन्न-भिन्न अधिकरण में रहने वाले धर्म का एक में जो समावेश होता है, उसे संकर दोष कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेष स्पष्टीकरण

१—औदारिक शरीरषट्क—औदारिक शरीर, औदारिक-औदारिकबंधन, औदारिक-तैजसबंधन, औदारिक-कार्मणबंधन, औदारिक-तैजस-कार्मणबंधन, औदारिक-संघातन, कुल ६ प्रकृति ।

२—वैक्रियषट्क—वैक्रिय शरीर, वैक्रिय-वैक्रियबंधन, वैक्रिय-तैजसबंधन, वैक्रिय-कार्मणबंधन, वैक्रिय-तैजस-कार्मणबंधन, वैक्रियसंघायन, कुल ६ प्रकृति ।

३—आहारकषट्क—आहारक शरीर, आहारक-आहारकबंधन, आहारक-तैजसबंधन, आहारक-कार्मणबंधन, आहारक-तैजस-कार्मणबंधन, आहारक-संघातन, कुल ६ प्रकृति ।

४—तैजसचतुष्क—तैजस शरीर, तैजस-तैजसबंधन, तैजस-कार्मणबंधन, तैजससंघातन, कुल ४ प्रकृति ।

५—कार्मणत्रिक—कार्मण शरीर, कार्मण-कार्मणबंधन, कार्मणसंघातन, कुल ३ प्रकृति ।

६—उदयवती-अनुदयवती—चौदहवें गुणस्थान में वेदनीयद्विक में से एक का उदय होता है और एक का उदय नहीं होता है तथा अपने से इतर वेदोदय में श्रेणी मांडने वाले के नपुंसकवेद और स्त्रीवेद का उदय नहीं होता है जिससे ये चारों प्रकृतियां अनुदयवती भी सम्भव हैं। परन्तु भिन्न-भिन्न जीवों की अपेक्षा उदयवती भी हैं। इसलिये मुख्य गुण की दृष्टि से उदयवती प्रकृतियों में गणना की है।

७—वर्णचतुष्क की पुण्य-पापरूपता—वर्णचतुष्क प्रकृतियों में से कतिपय पुण्य रूप और कतिपय पाप रूप हैं। इसीलिये यहाँ दोनों वर्गों में संकलित किया। पृथक्-पृथक् भेदापेक्षा इनकी नौ उत्तर प्रकृतियां पापरूप हैं, शेष ग्यारह पुण्य रूप। जिनके नाम गाथा १३ में बताये हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८—रसविपाका प्रकृतियां—हेतुविपाक की तरह रसविपाक की अपेक्षा भी प्रकृतियों के चार प्रकार हैं—(१) एकस्थानक, (२) द्विस्थानक, (३) त्रिस्थानक, (४) चतु:स्थानक। सभी शुभ और अशभ प्रकृतियों में सामान्य से द्वि०-त्रि०-चतु:स्थानक रसबंध होता है। लेकिन श्रेणि पर आरूढ़ होने के पश्चात् निम्नलिखित प्रकृतियों में एकस्थानक रस भी पाया जाता है। उनके नाम इस प्रकार हैं—मतिज्ञानावरणादि चतुष्क, चक्षुदर्शनावरणादि त्रिक, संज्वलनकषायचतुष्क, पुरुषवेद, अंतरायपंचक। ये कुल सत्रह प्रकृतियां हैं। इसीलिये इन सत्रह प्रकृतियों को चतु:स्थानपरिणत कहते हैं।

९—आयुचतुष्क उदयबंधोत्कृष्टा आदि क्यों नहीं—आयुकर्म में परस्पर संक्रम होता नहीं तथा पूर्वबद्ध आयुकर्म के दलिक बद्धयमान आयु के उपचय के लिये भी कारण नहीं हैं। पूर्वबद्ध और बद्धयमान दोनों प्रकार की आयु स्वतन्त्र हैं। जिससे आयुचतुष्क का उदयबंधोत्कृष्टटा, अनुदयबंधोत्कृष्टा, उदयसंक्रमोत्कृष्टा, अनुदयसंक्रमोत्कृष्टा इन चार वर्गों में से किसी में भी ग्रहण नहीं होता है। यद्यपि देव, नरकायु परमार्थत: अनुदयबंधोत्कृष्टा हैं। क्योंकि ये अपने अनुदयकाल में बंधती हैं। परन्तु प्रयोजन के अभाव में पूर्वाचार्यों ने चार में से किसी भी वर्ग की विवक्षा नहीं की है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत ग्रन्थ : एक परिचय

कर्मसिद्धान्त एवं जैनदर्शन के प्रकाण्ड विद्वान आचार्य चन्द्रर्षि महत्तर (विक्रम ९-१० शती) द्वारा रचित कर्मविषयक पाँच ग्रन्थों का सार संग्रह है–पंच संग्रह।

इसमें योग, उपयोग, गुणस्थान, कर्मबन्ध, बन्धहेतु, उदय, सत्ता, बन्धनादि आठ करण एवं अन्य विषयों का प्रामाणिक विवेचन है जो दस खण्डों में पूर्ण है।

आचार्य मलयगिरि ने इस विशाल ग्रन्थ पर अठारह हजार श्लोक परिमाण विस्तृत टीका लिखी है।

वर्तमान में इसकी हिन्दी टीका अनुपलब्ध थी। श्रमणसूर्य **मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमल जी महाराज** के सान्निध्य में तथा मरुधराभूषण श्री सुकनमुनि जी की संप्रेरणा से इस अत्यन्त महत्वपूर्ण, दुर्लभ, दुर्बोध, ग्रन्थ का सरल हिन्दी भाष्य प्रस्तुत किया है—जैनदर्शन के विद्वान श्री देवकुमार जैन ने।

यह विशाल ग्रन्थ क्रमशः दस भागों में प्रकाशित किया जा रहा है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन से जैन कर्म सिद्धान्त विषयक एक विस्मृतप्रायः महत्वपूर्ण निधि पाठकों के हाथों में पहुँच रही है, जिसका एक ऐतिहासिक मूल्य है।

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'

प्राप्ति स्थान :—
श्री मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति
पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org